आधुनिक
भारत
के
निर्माता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हिरण्मय बनर्जी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हिरण्मय बनर्जी

आधुनिक भारत के निर्माता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हिरण्मय बनर्जी

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण : अग्रहायण 1904
दिसम्बर 1982
द्वितीय संस्करण : फाल्गुन 1913
मार्च 1992

© प्रकाशन विभाग

मूल्य : 30.00

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र • प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069
- एल. एल. आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- निकट गवर्नमेन्ट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
- 10 बी. स्टेशन रोड, लखनऊ-226004

बंगाल ऑफसैट वर्क्स, नई दिल्ली-110005 द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

आधुनिक भारत के निर्माताओं में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का महत्वपूर्ण स्थान है, यह सभी मानते हैं। उनके अनेकानेक योगदान भी अपनी अलग विशेषता रखते हैं। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में तो मुख्य रूप से उनकी देन है ही, पर वे उन्हीं तक सीमित नहीं हैं। अन्य क्षेत्रों में भी उनका काफी योगदान रहा है। एक रचनात्मक साहित्यकार के रूप में, उनका योगदान इतना सुविदित है कि उसके-विस्तार से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। सांस्कृतिक क्षेत्र में, उन्होंने संगीत की एक नई शैली को जन्म दिया, जो उनके नाम पर 'रवीन्द्र संगीत' कहलायी और इस तरह वे एक असाधारण स्वर-शिल्पी के रूप में सामने आए। परम्परागत भारतीय नृत्यों के संरक्षक की हैसियत से, उन्होंने उन्हें पुनरुज्जीवित किया और इस प्रक्रिया में नृत्य की एक नई शैली प्रस्तुत की। और, अन्त में, वृद्धावस्था में, जब वे चित्रकार बन गए तो विदेशी कला-पारखियों से उन्हें बहुत ही उत्साहपूर्ण सराहना मिली।

अन्य क्षेत्रों में भी उनकी उपलब्धियां कम उल्लेखनीय नहीं हैं। शिक्षाविद् के रूप में, उन्होंने नए विचारों का सूत्रपात किया और उन पर प्रयोग करते हुए 'विश्व भारती' नामक एक अनुपम शिक्षा-संस्थान खड़ा कर दिया। एक संवेदनशील मानववादी के रूप में, उन्होंने ग्रामवासियों की दशा सुधारने के लिए ग्राम-पुनर्निर्माण के नए प्रयोग किए। इस दिशा में उनका कार्य उस 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' का पूर्व-प्रयोग था जो स्वाधीनता के बाद देश में योजना आयोग द्वारा शुरू किया गया। यद्यपि राजनीतिक गतिविधियों से उन्हें विरक्ति थी, फिर भी उनका संवेदनशील हृदय देश की गम्भीर राजनीतिक घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया दिखाए बिना नहीं रह सका। इसी कारण उन्होंने 1905 में बंगविच्छेद-विरोधी आन्दोलन में गहरा भाग लिया, और 1919 में जलियांवाला बाग के नर-संहार के बाद 'सर' की अपनी उपाधि लौटा दी। बंगविच्छेद-विरोधी आन्दोलन के सिलसिले में उन्होंने राखी-बंधन समारोह चलाया और देश प्रेम के ऐसे गीतों

की रचना की जो अभी भी देशभक्ति की हमारी भावनाओं को बढ़ाते और पुष्ट करते हैं।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर का चरित्र काफी जटिल है और उनके कई पहलू हैं। इस जटिलता के कारण ही उनके जीवनीकार का कार्य थोड़ा कठिन हो जाता है। इस जीवन-चरित्र में उनकी उपलब्धियों को उनके रंगारंग जीवन की घटनाओं से जोड़ते हुए, उनके चरित्र के विभिन्न पहलुओं और हमारी विरासत में उनके योगदान पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तकमाला की निश्चित सीमा के अन्दर जो सामग्री यहां प्रस्तुत की गई है वह, आशा है, पाठकों को काफी व्यापक लगेगी और उससे इस महापुरुष के जीवन की पर्याप्त झांकी उन्हें मिल सकेगी।

इस जीवनचरित्र-माला में मुझे एक ऐसे विषय पर लिखने को कहा गया जो मेरे हृदय को अत्यन्त प्रिय है। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूं।

9 मई, 1971 —हिरण्मय बनर्जी

अनुक्रम

1.	उनके पूर्वज	1
2.	परिवार	18
3.	जन्म और बचपन	32
4.	शिक्षा	43
5.	साहित्यिक प्रतिभा का विकास	55
6.	विवाह और पारिवारिक जीवन	69
7.	शिक्षा में प्रयोग	81
8.	कष्ट और भटकाव	91
9.	आत्मदर्शन	104
10.	विश्व-विभूति के रूप में मान्यता	123
11.	भारत के आध्यात्मिक राजदूत	133
12.	शिक्षाविद् और सामाजिक कार्यकर्ता	157
13.	चित्रकार के रूप में	169
14.	आखिरी दिन	183
	परिशिष्ट-(क) वंशावली	194
	परिशिष्ट-(ख) रचनाओं की सूची	201

1. उनके पूर्वज

ठाकुर परिवार अपने वंश का सिलसिला सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'वेणी संहारम्' के रचयिता भट्टनारायण से जोड़ता है। इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है कि भट्टनारायण मूलतः कन्नौज के वासी थे और आठवीं शताब्दी में बंगाल के राजा आदिसुर के निमन्त्रण पर, चार अन्य प्रतिष्ठित ब्राह्मणों सहित, उनके दरबार में आ गए थे। राजा ने न केवल उन्हें बहुत सारी जमीन उपहार में दी, बल्कि उनके बेटों के लिए भी जमीनें बख्शीं।

उनका पहला बेटा, आदिवराह, वीरभूम जिले के बंद्यघाटी गांव में बसा जो इस समय बंदीघाट कहलाता है। उसके वंशज इस गांव के नाम पर बंद्योपाध्याय कहलाने लगे। एक और बेटा काय बर्दवान जिले के कुश गांव में बसा और उसके वंशज उस गांव के नाम पर कुशारी कहलाये। ठाकुर परिवार का निकास इन दो शाखाओं में से किससे है, इस पर विवाद है। एक मत उसे कुशारियों से और दूसरा बंद्योपाध्यायों से जोड़ता है। ठाकुर परिवार के सदस्य अपना उद्भव आदिवराह से मानते हैं इस लिए उनका कहना है कि उनका परिवार शुरू में बंद्योपाध्याय कहलाता था।

इसके बाद कई शताब्दियों तक इस परिवार की गतिविधियों का कुछ पता नहीं चलता । परन्तु एक अनुश्रुति है कि रवीन्द्रनाथ के एक काफी पुराने पूर्वज जगन्नाथ का विवाह, जो पूर्व बंगाल स्थित जैसोर जिले के पिठाभोग गांव के वासी थे, चिनगुटिया के सुखदेव राय चौधरी की बेटी से हुआ था और वे उसी जिले के नरेन्द्रपुर गांव में बस गए थे।[1]

इसके बाद उनके बारे में कुछ अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सुनने को मिलता है। जाब चारनाक तब तक कलकत्ता की नींव रख चुके थे। आज जिस जगह फोर्ट विलियम है उसके पास एक बन्दरगाह भी खुल गई थी। यह जगह गोविन्दपुर गांव में पड़ती थी जो कलकत्ता की स्थापना के लिए जांब चारनाक द्वारा खरीदे गए तीन गांवों में से एक था। ईस्ट इंडिया कम्पनी इस

---

1 रवीन्द्रनाथ ठाकुर: म्रान दा एजिस म्राफ टाइम; म्रौर क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर: द्वारकानाथ ठाकुर जीवनी

बन्दरगाह पर खूब व्यापार कर रही थी। नए कस्बे में सुरक्षा थी और रोजी-रोटी कमाने की सुविधाएं थीं, जिनसे आकर्षित होकर बहुत लोग बाहर से आ-आ कर वहां बसने लगे और वह तेजी से एक शहर में विकसित होता गया।

इस नए फूलते-फलते शहर ने जगन्नाथ के पोते के पोते, पंचानन को भी आकर्षित किया और वे जैसोर जिले का अपना सुदूर गांव छोड़ भाग्य आजमाने वहां आ गए थे। ऐसा लगता है कि वे नये बन्दरगाह के निकट नदी के किनारे ही बस गए थे। वह इलाका तब ऐसे लोगों से आबाद था जो मछलियां पकड़ कर या बन्दरगाह पर माल ढोकर जीवन-निर्वाह करते थे। यद्यपि जन-साधारण के बीच वहां पंचानन ही अकेले उच्च कुल के ब्राह्मण थे, फिर भी उन्हें अपनी जगह बनाने में देर नहीं लगी। स्वभाव से मिलनसार और चरित्र से आदर्श होने के कारण वे उन लोगों के साथ न केवल शान्तिपूर्वक रह पाए, बल्कि उनसे उनके स्नेह-सम्बन्ध भी हो गए। वास्तव में, आस-पास के लोग उन्हें प्रेम और आदर की दृष्टि से देखने लगे। वे उन्हें 'ठाकुर' कह कर पुकारने लगे—जिसका अर्थ होता है धर्मात्मा।

पंचानन ने जरूर कोई ऐसा धन्धा अपनाया होगा जिससे उनका ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हो गया। उनके निवास-स्थान की स्थिति इस बात की पुष्टि करती लगती है। अनुमान है कि आस-पास के लोगों को उन्हें 'ठाकुर' कहते सुन कम्पनी के व्यापारी भी उनकी नकल करने लगे। परन्तु भारतीय शब्दों का रूप यूरोपियनों के होठों पर प्राय: विचित्र हो जाता है। मूल बंगला शब्द 'ठाकुर', इसी प्रक्रिया में से गुजरते हुए, अंग्रेजी में 'टैगोर' में रूपान्तरित हो गया और अन्तत: 'टैगोर' ही उनके परिवार की अल्ल पड़ गई।[1]

पंचानन का एक बेटा जयराम ईस्ट इंडिया कम्पनी में अमीन (सर्वेक्षक) बन गया। ऐसा लगता है कि उसके संरक्षण में परिवार काफी सम्पन्न हो गया, क्योंकि 1756 में जब उसकी मृत्यु हुई तो वह अपनी विधवा और चार बेटों के लिए काफी धन छोड़ गया था। इन बेटों में से दूसरे नीलमणि और तीसरे दर्पनारायण से यहां हमारा सीधा वास्ता रहेगा।

इसके तुरन्त बाद ही इस परिवार को, राजनीतिक उलटफेर के कारण, गोविन्दपुर के अपने घर से हटना पड़ा। मुर्शिदाबाद के तरुण नवाब सिराजुद्दौला

---

1. जेम्स डैरल कृत 'दी टैगोर फैमिली'

ने कम्पनी से दुश्मनी ठान ली। 1756 में वह फौज लेकर कलकत्ता की ओर बढ़ा और उसने शहर को रौंद डाला। जहां आज जनरल पोस्ट आफिस है, वहां उस समय एक किला था। फिर हालात तेजी से बदले। क्लाइव के नेतृत्व में एक फौज नवाब की राजधानी, मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ी और प्लासी की लड़ाई में नवाब बिलकुल परास्त हो गया। उसके बाद सत्ता के लिए जो संघर्ष चला उसमें सिराजुद्दौला की हत्या कर दी गई और सेनापति मीर जाफर उसकी जगह बंगाल की गद्दी पर बैठा। इस तरह पुनः शान्ति स्थापित हो जाने के बाद, ईस्ट इंडिया कम्पनी कलकत्ता की प्रतिरक्षा को और सुदृढ़ करने पर गम्भीरता से विचार करने लगी। एक नए किले की योजना बनी और यह तय हुआ कि वह गोविन्दपुर में बनाया जाए, जहां कि वह आज है। उस स्थल के अधिग्रहण के लिए अधिसूचना जारी कर दी गई और इस तरह ठाकुर परिवार वहां से विस्थापित हुआ।

परिवार के कर्ता नीलमणि ने उत्तरी कलकत्ता में जाने का निश्चय किया। पथुरियाघाट पर नदी-तट के पास ही उन्होंने कुछ प्लाट खरीद लिए और परिवार के लिए एक नया मकान बनवाया। उनकी मां ने उन्हें इतना धन दिया कि मकान के अहाते में एक मन्दिर भी बना और उसमें देवताओं की प्रतिष्ठा हुई। उसके बाद लगता है कि परिवार की देखरेख तीसरे भाई दर्पनारायण के हाथ में आ गई, और नीलमणि अपना भाग्य आजमाने के लिए कलकत्ता से कहीं और चले गए।

बाद में उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक कलैक्टर के शेरिस्तेदार (हैड क्लर्क) की नौकरी मिल गई। कम्पनी का प्रशासन-क्षेत्र तब तक न केवल बंगाल में ही रहा, बल्कि उड़ीसा और बिहार में भी फैल गया था। उनकी नियुक्ति किस जगह हुई, इस पर भी मतभेद है। एक मत के अनुसार, वह जगह चटगांव और दूसरे के अनुसार कटक थी। विस्तार में न जाकर, यह कहा जा सकता है कि प्रमाणों की जांच दूसरे मत का ही समर्थन करती है और यह मानना निरापद होगा कि उनकी नियुक्ति की जगह कटक थी जहां वे बहुत अरसे तक कम्पनी की सेवा में रहे। लगता है, ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रशासन-क्षेत्र 1803 के द्वितीय मराठा युद्ध के बाद ही कटक तक फैला। फिर भी, यह असम्भव नहीं है कि नीलमणि कम्पनी के व्यापारिक काम-काज के सिलसिले में ही वहां नियुक्त रहे हों।

1784 में नीलमणि ने पथुरियाघाट के अपने पारिवारिक मकान में

लौटने का निश्चय किया। इस बीच दर्पनारायण व्यापार के द्वारा, जो बहुत-कुछ साहूकारे के ढंग का था, मालामाल हो गए थे। नीलमणि, लगता है, इस लम्बे प्रवास के दौरान अपनी नियुक्ति की जगह से बराबर रकमें भेजते रहते थे जिससे, जैसा कि अनुमान लगाया जा सकता है, उनके छोटे भाई की आय के साधनों में वृद्धि हुई थी। इसी आधार पर नीलमणि ने अपने भाई के मुनाफे में एक हिस्से की मांग की। वह मांग, लगता है, अस्वीकार कर दी गई।

कहते हैं कि इससे नीलमणि के मन को इतना आघात लगा कि उन्होंने केवल उन देवताओं को लिया जिनकी पहली उन्होंने मन्दिर में प्रतिष्ठा की थी, और तुरन्त अपना पारिवारिक मकान छोड़ दिया। इस प्रतिष्ठित व्यक्ति की व्यथा ने वैष्णवदास सेठ नाम के एक धनी पड़ोसी के दिल को इस तरह छुआ कि उसने जोरासांको क्षेत्र में जमीन का एक खासा बड़ा प्लाट उन्हें उपहार में दे दिया। वह जगह ठाकुर परिवार के पहले मकान से कुछ फर्लांग दक्षिण-पूर्व में थी।[1] इस तरह 1784 के आसपास जोरासांको में रवीन्द्रनाथ के उस पारिवारिक मकान की नींव पड़ी जो इस समय द्वारकानाथ ठाकुर लेन का गृह-परिभाग संख्या 6 कहलाता है।

दोनों भाइयों के बीच मुनाफे के बंटवारे को लेकर जो मतभेद था वह, लगता है, आपसी मित्रों की कृपा से बाद में दूर हो गया। दर्पनारायण ने, नीलमणि के सभी दावों के पूर्ण समाधान-स्वरूप एक लाख रुपये दिए और विषाद समाप्त मान लिया गया।[2]

नीलमणि की मृत्यु 1791 में हुई और उन्होंने अपने पीछे तीन बेटे छोड़े-रामलोचन, राममणि और रामवल्लभ। रामलोचन और राममणि की पत्नियां सगी बहनें थीं। रामलोचन की पत्नी अलकादेवी के कोई बेटा नहीं था। राममणि की पत्नी मेनका देवी को भगवान ने एक बेटा दिया था, राधानाथ। कुछ वर्ष बाद, 1794 में, उसके दूसरा बेटा पैदा हुआ जिसका नाम रखा गया, द्वारकानाथ। तब बड़ी बहन अलका ने यह इच्छा प्रगट की कि यह दूसरा बेटा उसे गोद दे दिया जाए। बहन और बहनोई इस पर तुरन्त राजी हो गए। उनमें दोहरा रिश्ता होने और एक ही परिवार के होने के कारण यह बात आसान थी। परन्तु, दुर्भाग्य देखिए कि इस दूसरे बेटे के

1. जेम्स फैरल कृत 'दी टैगोर फैमिली'
2. 'महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर'

जन्म को मुश्किल से एक साल ही बीता होगा कि मेनका देवी को काल के क्रूर हाथों ने छीन लिया। इस तरह गोद को कानूनी रूप देने वाली रस्म नहीं हो पाई।

पांच वर्ष बाद, 1799 में, कानूनी तौर पर गोद लेने का सवाल फिर उठाया गया। पिता के लिए आपत्ति का कोई कारण था ही नहीं। अतः गोद की रस्म हुई और द्वारकानाथ कानूनी तौर पर अपने ताऊ रामलोचन के पुत्र हो गए। परन्तु, गोद की इस रस्म से बहुत पहले ही अलका देवी स्वय अपने गुणों से सगी मां का स्थान प्राप्त कर चुकी थीं। द्वारकानाथ जब दूध-पीता बच्चा था तभी से उसकी सारी जिम्मेदारी अलका ने अपने ऊपर ले ली थी और वह उसका लालन-पालन सगी मां की तरह ही पूरे मनोयोग से कर रही थी।

1807 में जब रामलोचन की मृत्यु हुई तब द्वारकानाथ केवल 12 - 13 साल के थे।

द्वारकानाथ को न केवल अपने परिवार बल्कि देश के भी इतिहास में एक बड़ी भूमिका अदा करनी थी। वस्तुतः वे पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आने वाले शुरू के कुछ अग्रणी व्यक्तियों में से थे। ऐसे ही एक अन्य महान व्यक्ति थे राममोहन राय। दोनों की आयु में यद्यपि बीस वर्ष से भी अधिक का अन्तर था, पर चरित्र की स्वाभाविक समानताएं उन्हें एक-दूसरे के निकट खींच लाईं। दोनों का व्यक्तित्व प्रभावशाली था, दोनों प्रगतिशील और उदार दृष्टि रखते थे और दोनों हृदय से पक्के राष्ट्रवादी थे। अतः, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि अपने देश की दशा सुधारने के संयुक्त प्रयत्नों में द्वारकानाथ राममोहन राय के छोटे साझीदार की भूमिका निभाते लगते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वारकानाथ ने छोटी उम्र में ही, स्वयं अपने मन से, अंग्रेजों के साथ गहरा सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। प्रगतिशील विचारों के होने के कारण वे यह समझे बिना नहीं रह सके कि ये लोग जिस नई संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं उसमें ऐसे गुण हैं जिनसे हमारे देशवासियों में नया जीवन फूंका जा सकता है। इस हार्दिक सराहना ने, स्वाभाविक रूप से, उन्हें उन लोगों की ओर खींचा और उन्होंने उनकी भाषा में पारंगत होने का निश्चय कर लिया, जिससे कि उनके साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया जा सके। इस विषय में उन्होंने राममोहन

राय के उदाहरण का अनुकरण किया, जो बिलकुल ऐसे ही विचार रखते थे और स्वयं काफी परिश्रम कर अंग्रेजी भाषा पर पूरा अधिकार कर चुके थे। इस तरह, उन दिनों के चलन के अनुसार, अरबी और फारसी की पढ़ाई पूरी कर, वे तन-मन से अंग्रेजी में पारंगत होने के प्रयास में जुट गए। शेरबार्न का स्कूल जोरासांको में ही था, वे उसमें दाखिल हो गए। वहां की पढ़ाई पूरी करने के बाद उन्होंने जे. एस. गार्डन जेम्स काल्डर जैसे प्राईवेट अध्यापकों से शिक्षा ली। अंग्रेजी के अपने ज्ञान को और निखारने के लिए उन्होंने बैप्टिस्ट मिशन के विलियम एडम्स से भी, जो राममोहन के गहरे दोस्त थे, शिक्षा ली।

अंग्रेजी भाषा में पारंगत हो जाने के बाद उन्होंने पहली नौकरी चौबीस परगना के कलेक्टर के शरिस्तेदार के रूप में की। अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति में उन्होंने जिस क्षमता का परिचय दिया उससे उनके वरिष्ठ अधिकारी इतने प्रभावित हुए कि, उन्हें अपनी प्रतिभा के उपयोग के लिए और व्यापक क्षेत्र प्रदान करने की दृष्टि से, उन्होंने उनकी तुरन्त तरक्की करने का फैसला कर लिया। इस तरह 1829 में उनकी साल्ट बोर्ड के दीवान के रूप में पदोन्नति कर दी गई। अपनी जबर्दस्त कार्य-शक्ति, कुशलता और ईमानदारी के कारण उन्हें शीघ्र ही एक और तरक्की मिली। उसी साल वे सीमा शुल्क, नमक और अफीम बोर्ड के दीवान नियुक्त हो गए।

परन्तु, उन जैसे क्षमतावान और महत्वाकांक्षी व्यक्ति को उनके पद की पाबन्दियां अपनी प्रतिभा के उपयोग के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं दे रही थीं। एक प्रशासक के रूप में वे अपनी कार्यकुशलता का परिचय दे चुके थे, परन्तु व्यापार और वाणिज्य के उपक्रमों में अपना जौहर दिखाने का उन्हें अभी तक अवसर नहीं मिला था, जबकि वह उनके जीवन की एक बड़ी साध थी। यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति का एक सीधा परिणाम यह निकला था कि व्यापार का तेजी से विस्तार हो रहा था और कलकत्ता में बैंकिंग की सुविधाओं की मांग बढ़ गई थी। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए, 1806 में बंगाल बैंक स्थापित किया जा चुका था। लेकिन इस क्षेत्र में बैंकिंग व्यवसाय के लिए अभी भी काफी गुंजाइश थी। अतः 1829 में, नौकरी करते हुए ही, द्वारकानाथ ने 14 लाख रुपये की पूंजी से यूनियन बैंक नाम का एक अपना बैंक खोला। इसका संचालन ऐसी कुशलत्ता से किया गया कि

1839 तक इसकी कारोबार में लगी पूंजी बढ़ कर एक करोड़ रुपये से भी अधिक हो गई।

नौकरी में रहते हुए वे एक ऐसे विषय में भी दिलचस्पी लेने लगे थे जिसका ईस्ट इंडिया कम्पनी के हितों पर सीधा प्रभाव पड़ता था। ब्रिटिश संसद द्वारा स्वीकृत एक अधिकार-पत्र द्वारा, जिसका हर बीस साल बाद नवीकरण होना था, ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारत के साथ होने वाले व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त था। पर, इस बीच ऐसे स्वतन्त्र व्यापारियों की संख्या बराबर बढ़ रही थी जो इस क्षेत्र में उसके प्रतिस्पर्धी थे, और वे कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त करने की आवाज उठा रहे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि 1813 में नवीकृत अधिकार-पत्र में कम्पनी से उसका एकाधिकार ले लिया गया। अधिकार-पत्र के पुनः नवीकरण का समय जब नजदीक आने लगा तो कम्पनी के व्यापारिक अधिकारों को बिलकुल समाप्त करने का आन्दोलन जोर पकड़ गया। 1829 के आसपास वह इतना तेज हो गया कि इंग्लैंड और कलकत्ता दोनों जगह इस सवाल पर जबर्दस्त बहस छिड़ गई।

द्वारकानाथ को हम उस बहस में बड़ी सरगर्मी से भाग लेते पाते हैं। उनका यह विचार था कि मुक्त व्यापार होना चाहिए और कम्पनी के व्यापारिक अधिकार खत्म होने चाहिए। 15 दिसम्बर, 1829 को कलकत्ता के टाउन हाल में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें उन्होंने कम्पनी के व्यापारिक अधिकारों को समाप्त करने की मांग संबंधी प्रस्ताव रखा। ब्रिटिश सरकार आखिर जनमत के दबाव के आगे झुकी और 1833 में उसने अधिकार-पत्र का नवीकरण अस्वीकार कर कम्पनी के व्यापारिक अधिकार खत्म कर दिए।

द्वारकानाथ के लिए अब व्यापार और व्यवसाय के क्षेत्र में अपना भाग्य आजमाने का समय आ गया था। इस अवसर से लाभ उठाने में वे तनिक भी नहीं झिझके और 1 अगस्त, 1834 को उन्होंने सीमा शुल्क, नमक और अफीम बोर्ड की दीवानी से इस्तीफा दे दिया। बोर्ड ने उनका इस्तीफा उसी भावना से स्वीकार किया जिससे कि वह दिया गया था और यह बात पूरी तरह समझ ली कि द्वारकानाथ को सरकार से बाहर रह कर अपनी प्रतिभा को काम में लाने का बेहतर अवसर मिलेगा। बोर्ड के सचिव, हेनरी मैरडिथ पार्कर ने इस्तीफे को स्वीकार करते हुए उन्हें जो पत्र लिखा उसमें न केवल इन भावनाओं

की अभिव्यक्ति थी, बल्कि द्वारकानाथ के गुणों की भी सराहना की गई थी। उसका प्रासंगिक अंश हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं :

"आपकी योग्यता और ईमानदारी की बोर्ड कितनी कद्र करता है यह बात और इस कार्यालय के साथ आपके सम्बन्ध से सार्वजनिक हितों को जो लाभ हुआ है उसकी सराहना बोर्ड की कार्यवाही के विवरण में अंकित है। इस लिए फिलहाल इससे अधिक कहना अनावश्यक होगा कि बोर्ड आपकी पिछली सेवाओं की हृदय से प्रशंसा करता है।"

इसके तुरन्त बाद उसी अधिकारी ने, जिसे उनसे गहरा स्नेह हो गया था, एक व्यक्तिगत पत्र लिखा, जिसमें द्वारकानाथ के अनेक गुणों की सराहना और भी खुलकर की गई थी। उसमें लिखा था: "प्रिय द्वारकानाथ, अपने देशवासियों के आगे सम्मान और सत्यनिष्ठा का उदाहरण इसी तरह पेश करते रहो; अच्छाई और बुराई दोनों की रिपोर्ट देते हुए सच्चाई पर इसी तरह डटे रहो और अपने अन्त:करण की बात मानते रहो; लोगों को सच्चे ज्ञान और बौद्धिक सभ्यता के मार्ग पर इसी तरह ले जाते रहो।"

जीवन के इस नये अध्याय का आरम्भ भी द्वारकानाथ ने वैसी ही कार्य-शक्ति और कल्पनाशीलता से किया। एक अंग्रेज व्यापारी विलियम कार को उन्होंने अपना साझी बनाया और 'कार, टैगोर एण्ड कम्पनी' नाम से एक फर्म शुरू की। उनकी देखरेख में इस फर्म ने आशातीत उन्नति की और सारे बंगाल में इसकी शाखाएं स्थापित हो गईं। यह फर्म सभी सम्भव कारोबारों से सरो-कार रखती थी, जिनमें नील, चीनी, भू-सम्पत्ति का प्रबन्ध आदि शामिल थे। उनकी गजब की हिम्मत और कल्पना-शक्ति के कारण यह फर्म कई अन्य दृष्टियों से भी विशिष्ट हो गई। उन्होंने कुछ ऐसे जोखिम-भरे अग्रगामी उद्यम शुरू किए जिनमें पश्चिम में विकसित प्रौद्योगिकी का हमारे देश में पहली बार उपयोग किया गया था। 1837 में उन्होंने मालवाही नौकाओं की खिंचाई के लिए वाष्पचालित 'टगों' का व्यवसाय आरम्भ किया। इन 'टगों' के लिए कोयले की व्यवस्था के लिए उन्होंने खान से कोयला निकालने के लिए रानीगंज के इलाके में बंगाल कोल कम्पनी स्थापित की। यह भी भारत में अपनी ढंग का पहला नया साहसिक उपक्रम था। इन 'टगों' की मरम्मत के लिए उन्होंने खिदिरपुर में एक डाक खोला जहां जहाजों की मरम्मत की सुविधाएं उपलब्ध थीं।

कार टैगोर कम्पनी ऐसी दक्षता और कुशलता से चलाई गई कि शीघ्र

ही यह कलकत्ता की एक प्रमुख फर्म मानी जाने लगी। इसे बेहद मुनाफा होने लगा और द्वारकानाथ बहुत धनी हो गये। द्वारकानाथ को अगर रुपया कमाने का ढंग आता था तो उसे खर्च करने का भी आता था। वे हृदय से दयालु और बहुत शौकीनमिजाज थे और अपना पैसा शाही ढंग से खर्च करते थे। उनका बहुत रुपया जहां धर्मार्थ कामों पर खर्च होता था, वहां काफी रकम सामाजिक समारोहों पर भी खर्च की जाती थी। यूरोपियन समाज के साथ गहरे सामाजिक मेलजोल के पक्षपाती होने के कारण, वे शाही ढंग की शानदार पार्टियां आयोजित करते रहते थे। इस कार्य के लिए उन्होंने बेलगाछिया में एक छोटा-सा उद्यान-भवन बनवाया था। वहां वे अपने यूरोपियन मित्रों के लिए जो पार्टियां आयोजित करते थे वे उस समाज के सर्वोच्च लोगों को आकर्षित करती थीं और उनमें उच्च अधिकारी और गवर्नर के निकट सम्बन्धी तक भाग लेते थे। ये पार्टियां कलकत्ता की प्रमुख सामाजिक घटनाएं मानी जाने लगीं और उन दिनों सुबह के अखबारों में उनकी खबरें बड़ी-बड़ी सुर्खियों के साथ दी जाया करती थीं।

मेजबान के रूप में द्वारकानाथ की सराहना करने वाली ऐसी ही एक रिपोर्ट का उद्धरण यहां दिलचस्प रहेगा। 26 फरवरी, 1841 के 'कलकत्ता कूरिअर' में द्वारकानाथ की एक पार्टी का निम्नलिखित विवरण मिलता है:

"द्वारकानाथ ठाकुर के यहां कल रात जो पार्टी हुई वह बहुत ही शानदार थी। माननीया मिस ईडन, सर ई. रीओन और कलकत्ता समाज के अन्य अधिकांश प्रमुख व्यक्ति वहां उपस्थित थे। मकान (जिसे बड़ी सुरुचि से सजाया गया था) और प्रांगण खूब जगमगा रहे थे। आतिशबाजी ऐसी थी जैसी कि इससे पहले भारत में हमने कभी नहीं देखी।' मेजबान खुद, हमेशा की तरह, बड़ी शालीनता से सब के आराम का बराबर ध्यान रख रहे थे। और मेहमानों को भी खूब आनन्द आ रहा था, यह इसी से स्पष्ट है कि वे रात बहुत देर तक वहां जमे रहे।

जिस शाही ढंग से वे रहते थे और धर्मार्थ कामों के लिए जिस तरह खुले हाथों दान देते थे, उससे उनका 'प्रिंस' (राजकुमार) उपनाम पड़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। वे लोक-सम्मति से 'प्रिंस' बने। पर वह तो उनकी महानता का न्यूनतम अंश था। प्रगतिशील विचारों, स्वतन्त्रता के लिए उत्कृष्ट प्रेम और हृदय की विशालता के कारण उन्हें उससे बहुत अधिक मिला। उन्हें

लोगों का आदर और प्रेम मिला और वे भारतीय और यूरोपीय समाज दोनों के प्रिय हो गये ।

द्वारकानाथ के प्रगतिशील दृष्टिकोण ने स्वभावत: उन्हें ऐसे आन्दोलनों की ओर आकर्षित किया जिनमें देश का कल्याण निहित था। इस मामले में वे अपने वरिष्ठ समकालीन नेता राममोहन राय के उदाहरण पर चले और स्वेच्छा से उन्हें उनके सुयोग्य प्रतिनिधि के रूप में सहयोग देने लगे। उनकी इस तरह की गतिविधियां छोटी उम्र से ही शुरू हो गईं और राममोहन राय की मृत्यु के बाद भी जारी रहीं । दोनों ने अंग्रेजी सीखी थी और उस पर अच्छी तरह अधिकार करने के बाद वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित नये ज्ञान के फलों को चखा था। दोनों यह समझ गये थे कि यह ज्ञान ऐसे विचारों का वाहक है जो हमारे अपने लोगों के मनों तक पहुंचने चाहिएं, ताकि वे फिर से जाग सकें और अपने को पहचान सकें। परन्तु ऐसा तब तक नहीं हो सकता था जब तक कि अंग्रेजी शिक्षा की सुविधाएं देश के युवकों को बड़े पैमाने पर उपलब्ध न हों। लेकिन देश की तत्कालीन सरकार ऐसा करने से कतराती थी। इस लिए यह निश्चय किया गया कि पहल लोगों की तरफ से ही होनी चाहिए।

इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा का आन्दोलन शुरू हुआ। राममोहन ने, जो तब तक कलकत्ता में रहने लगे थे, उसका नेतृत्व किया। लेकिन मुख्य भार डेविड हेर नाम के एक स्काट-लैंडवासी पर पड़ा। वे घंटे-घड़ियों के व्यापारी की हैसियत से भारत आए थे, पर हृदय की उदारता के कारण इस देश के लोगों से प्रेम करने लगे और उन्हीं की सेवा में तन-मन से जुट गए । उन्होंने राममोहन के ध्येय को अपना समर्थन देने का निश्चय कर लिया। अत: चन्दे के लिए अपीलें जारी की गईं। लोगों ने उदारता से दान दिया। स्वयं द्वारकानाथ ने दस हजार रुपये दिए । इस कोष से कालेज स्क्वेयर पर जमीन खरीदी गई और 20 जनवरी, 1817 को वहां हिन्दू कालेज खुला। इसका उद्देश्य ऐसा मार्ग खोलना बताया गया था "जिसके द्वारा वास्तविक ज्ञान यूरोपीय स्रोतों से भारत की मनीषा तक पहुंच सके।"

द्वारकानाथ की दिलचस्पी केवल अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में ही नहीं बल्कि व्यावहारिक विज्ञान, विशेष कर चिकित्सा-विज्ञान के प्रसार में भी थी। इसी लिए जब लार्ड विलियम बेंटिंक ने, भारतीयों को पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति की ट्रेनिंग देने के लिए, 1835 में कलकत्ता में एक

मेडिकल कालेज खोलने का निश्चय किया तो उन्होंने उसका स्वागत किया। सुयोग्य छात्र इस कालेज की ओर आकर्षित हों, इस आशय से उन्होंने उन्हें पुरस्कार प्रदान करने के लिए दो हजार रुपये दान दिये। इंग्लैंड की अपनी पहली यात्रा में वे पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति के गुणों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि भारतीय डाक्टरों को इंग्लैंड में चिकित्सा-विज्ञान के उच्च प्रशिक्षण की सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए। उन्होंने इस दिशा में पहल की, जिससे सरकार चिकित्सा-विज्ञान के भारतीय स्नातकों को विदेश में प्रशिक्षण के लिए दो छात्रवृत्तियां देने पर राजी हो गई। इन प्रयत्नों में अपना योग देते हुए, दो और स्नातक उन्होंने स्वयं चुने और इंग्लैंड में उनके प्रशिक्षण का सारा खर्च अपनी जेब से दिया।

राम मोहन राय के साथ एक और क्षेत्र में भी द्वारकानाथ ने कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया। 'सती' प्रथा का चलन, जिसके अन्तर्गत हिन्दू विधवा मृत पति के साथ स्वयं को भी उसकी चिता पर जला सकती थी, उस शताब्दी के आरम्भ में बहुत बढ़ गया था। उसके पीछे कई बाह्य कारण काम कर रहे थे। बहुत बार ऐसा होता था कि पति की सम्पत्ति के भावी उत्तराधिकारी, बेहद लालच के कारण, अपने अंतःकरण की आवाज को दबाकर परोक्ष हत्यारों की भूमिका निभाने लगते थे। विधवा को लगे शोक के आघात का लाभ उठाते हुए, वे उसे 'सती' होने और पति की चिता पर बैठने को उकसाने लगते थे और उसके एक बार ऐसा करते ही उनकी कोशिश यही रहती थी कि उसे जबर्दस्ती जला दिया जाए। इस तरह, इसने एक बहुत ही बर्बर प्रथा का रूप ले लिया था।

इस चलन का नृशंस रूप तत्कालीन सरकार से छिपा हो, यह बात नहीं थी। उसकी न्याय-चेतना इसके खिलाफ विद्रोह कर रही थी और उसने 1812 में ही, इस तरह के विनियम पास कर, कि विधवा को जबर्दस्ती जलाने के मामले में पुलिस हस्तक्षेप कर सकती है, अपने विरोध की अभिव्यक्ति भी दी थी पर उसका कोई असर नहीं हुआ। 1817 में जब इन अभागी स्त्रियों का सवाल राममोहन ने उठाया और इस प्रथा के उन्मूलन के लिए आन्दोलन चलाया तो स्थिति पराकाष्ठा पर पहुंच गई। वस्तुतः, उन्होंने तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स को एक आवेदन पेश किया जिसमें इस प्रथा के घिनौने रूप की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया था। रूढ़िवादी वर्ग

ने इससे उत्तेजित हो एक जवाबी आन्दोलन चला दिया। ऐसी परिस्थिति में कम्पनी ने अपनी पुरानी नीति जारी रखना ही ठीक समझा।

परन्तु राममोहन ने अपना ध्येय नहीं छोड़ा। लार्ड एमहर्स्ट के काल में उन्होंने यह सवाल फिर उठाया। जो चीज सरकार को उनकी इच्छाओं को कार्यान्वित करने से रोक रही थी वह यह गलतफहमी थी कि यह प्रथा धार्मिक कर्मकांड का अंग है और कोई भी सरकारी कार्यवाही विदेशी सत्ता द्वारा धार्मिक आचार के पालन में हस्तक्षेप समझी जाएगी। इस लिए राममोहन ने दूसरा तरीका अपनाया। उन्होंने लार्ड एमहर्स्ट को सप्रमाण यह समझाने की कोशिश की कि यह प्रथा शास्त्रसम्मत नहीं है, जो कि सच्चाई थी। राममोहन की युक्तियां अकाट्य हैं इसका उन्हें विश्वास तो हो गया, पर वे फिर भी झिझकते रहे। लार्ड एमहर्स्ट की भावनाएं 1828 की उनकी निम्नलिखित टिप्पणी में बहुत ही खुलकर व्यक्त हुई हैं:

"यद्यपि इस बात का काफी अन्देशा है कि इस बुराई की भीषणता के प्रति हमें उदासीन समझा जायेगा, फिर भी मैं साफ-साफ स्वीकार करता हूं कि मेरा झुकाव इसी सिफारिश की तरफ है कि इस देश के लोगों के बीच अब जो ज्ञान के प्रसार में प्रगति हो रही है वही, हमें विश्वास है, धीरे-धीरे इस घृणित अन्धविश्वास को समाप्त करेगी।"[1]

लेकिन लार्ड विलियम बेंटिक जब गवर्नर-जनरल हुए तो हालात बड़ी तेजी से बदले। मेधावी और हृदय से सहानुभूतिशील होने के कारण, वे राम-मोहन की बात की तर्कसंगतता को समझ गए। इसी लिए उन्होंने इस प्रथा को समाप्त करने में झिझक नहीं दिखाई। 4 दिसम्बर, 1829 को उन्होंने विनियम 17 पास कर इसे गैरकानूनी और कानूनन दण्डनीय घोषित कर दिया। लार्ड बैंटिक के 8 नवम्बर 1829 के खरीते से इस बात की पुष्टि होती है कि ऐसा करने में वे राममोहन की इस राय से बहुत अधिक प्रभावित थे कि यह प्रथा उतनी धर्मसम्मत नहीं है जितनी कि चलन पर आधारित है, इस लिए पुलिस के हस्तक्षेप द्वारा इसे आसानी से समाप्त किया जा सकता है।

गवर्नर-जनरल को इस प्रथा के उन्मूलन के लिए राजी करने में द्वारकानाथ ने राममोहन की कितनी सहायता की थी, यह बात बहुत लोगों को पता नहीं

1. जेम्स फैरल कृत 'दी टैगोर फेमिली'

है। परन्तु इसे सिद्ध करने के लिए विश्वसनीय प्रमाण मौजूद हैं। यूरोपीय समुदाय द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखे जाने वाले एक अग्रणी व्यक्ति के रूप में उनका स्थान समाज में बहुत ऊंचा था और राज्य के सर्वोच्च क्षेत्रों तक उनकी पहुंच थी। इसी लिए वे ऐसा कर पाए। राममोहन के प्रगतिशील विचारों से सहमति रखते हुए, उन्होंने भी इस तथ्य पर जोर दिया था कि यह प्रथा शास्त्र-सम्मत नहीं है। लेडी बैंटिंक द्वारा द्वारकानाथ को लिखे गये पत्र के निम्नलिखित अंश से यह बात स्पष्ट हो जायेगी:

"मुझे यह कहते हुए बड़ी खुशी होती है कि कलकत्ता के निवासियों में स्वर्गीय राममोहनराय और आप ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने इस मामले में सब से ज्यादा दिलचस्पी ली और इस आशय की सब से महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की कि यद्यपि यह भयानक प्रथा लम्बे अरसे से चले आते रिवाज के कारण प्रभाव में धार्मिक विधि जैसी हो गई, फिर भी यह ऐसी प्रथा है जिस पर वस्तुतः हिन्दु शास्त्रों ने जोर नहीं दिया है।"[1]

भाषण की स्वतंत्रता से अपने प्रेम के कारण, द्वारकानाथ को एक और विवाद में उलझना पड़ा और उसमें भी उन्हें जबर्दस्त सफलता मिली। शताब्दी के मोड़ पर समाचार-पत्र कलकत्ता में एक प्रभावशाली संस्था का रूप ग्रहण कर चुके थे। परन्तु, दुर्भाग्य से, समाज के सम्मानित व्यक्तियों को बदनाम करना कुछ पत्रकारों की आदत बन गई थी। इस लिए सरकार को 1799 में ही समाचारपत्रों के सेंसर के लिए कदम उठाने पड़े थे। इससे एक विवाद शुरू हो गया, जिसमें एक पक्ष सेंसर की हिमायत कर रहा था जबकि दूसरा यह चाहता था कि वह हटा लिया जाए। कई दशक तक दोनों पक्षों में रस्साकशी चलती रही, जिसमें कभी एक तो कभी दूसरा जीतता दिखाई देने लगता था। इस तरह जहां 1813 में समाचार पत्रों पर नियंत्रण और कड़ा कर दिया गया, लार्ड हेस्टिंग्स ने 1817 में नियन्त्रण बिलकुल हटा लिया। लेकिन 1823 में नियन्त्रण फिर लागू कर दिया गया और नये विनियम में और बातों के साथ-साथ यह व्यवस्था भी की गई कि कोई भी नया पत्र बिना लाइसेंस के निकाला नहीं जा सकता।

1835 में समाचारपत्रों पर से सेंसर हटाने की मांग का आन्दोलन काफी तेज हो गया। इस बार यूरोपीय और भारतीय समाज मिलकर नियन्त्रण हटाने की मांग कर रहे थे। इस आन्दोलन के अन्तर्गत कलकत्ता के टाउन हाल में

1. क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'द्वारकानाथ ठाकुरेर जीवनी'

एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें नियन्त्रण हटाने की मांग का एक प्रस्ताव पास किया गया। ।द्वारकानाथ ने इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और उन्हें भारतीय और यूरोपीय दोनों समाजों का प्रेम मिला। इन प्रयत्नों को आशातीत सफलता मिली, क्योंकि तत्कालीन गवर्नर-जनरल सर चार्ल्स मेटकाफ ने समाचारपत्रों पर से सभी प्रतिबंध हटा लिए। इस सफलता की खुशी में 9 फरवरी, 1838 को एक प्रतिभोज आयोजित किया गया, जिसमें हेनरी मेरडिथ पार्कर ने "जिस ध्येय की सफलता की खुशी में इस रात हम लोग यहां जमा हैं" के लिए द्वारकानाथ की सेवाओं को स्वीकार करते हुए उनके सम्मान में जाम पेश किया।

द्वारकानाथ ने जिन मामलों में भी दिलचस्पी ली उन सभी में उन्हें अपूर्व सफलता मिली थी, और अब उनका ध्यान, स्वभावतः, उन व्यापारिक फर्मों के भविष्य पर गया जो उन्हीं की स्थापित की हुई थी। 1829 में शुरू किया गया यूनियन बैंक और 1834 में स्थापित कार, टैगोर एण्ड कम्पनी-दोनों उनकी देखरेख में उत्तरोत्तर समृद्ध होते गए थे। इन दोनों फर्मों के वास्तुकार होने के कारण, उनकी भावी सुरक्षा की चिन्ता उनके लिए स्वाभाविक थी।

उनके विचार में इसका सबसे अच्छा उपाय यह था कि अपने सब से बड़े बेटे देवेन्द्रनाथ की इन फर्मों के काम में दिलचस्पी पैदा की जाए, और उसे ऐसी ट्रेनिंग दी जाए जिससे वह आगे चलकर दोनों के प्रमुख प्रशासनाधिकारी की भूमिका निभा सके। पर ये आशाएं पूरी नहीं हुईं। देवेन्द्रनाथ स्वभाव से बहुत ही धर्मनिष्ठ थे और बैंक या व्यापारिक फर्म चलाने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। कारोबार में उनकी जरा भी रुचि न देख द्वारकानाथ को यह बात पहले ही नजर आ गई कि उनके द्वारा स्थापित इन फर्मों का भविष्य अनिश्चित है; और इसका सबसे बुरा परिणाम यह हो सकता है कि उनके परिवार को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ सकता है।

इन परिस्थितियों में अपनी समझ से सब से अच्छा काम वे यही कर सकते थे कि कुछ सम्पत्ति अलग कर दी जाए, जिससे आर्थिक संकट की स्थिति में परिवार के लिए नियमित आय सुरक्षित रहे। इस विचार ने एक न्यास-पत्र का रूप लिया, जिसके अनुसार उत्तर बंगाल और उड़ीसा के कटक में स्थित चार जमींदारी जागीरों का प्रबंध तीन ट्रस्टियों को, जो उनके निकट

सम्बन्धी थे, एक समिति को सौंप दिया गया। पुत्रों को उन जागीरों से सीधा सम्बन्ध रखने का अधिकार नहीं था, पर वे उनका मुनाफा आपस में बांट सकते थे। यह न्यास-पत्र अगस्त, 1840 में अमल में आ गया।

ऐसा लगता है कि द्वारकानाथ का मन अब कलकत्ता के व्यस्त जीवन से अपने को अलग कर लेने को विकल रहने लगा था। इस भावना के पीछे अनेक कारण रहे होंगे। पहली बात तो यह थी कि उनकी प्रिय माता अलका देवी का 1838 में, जब वे उत्तर भारत की यात्रा पर थे, उनकी अनुपस्थिति में देहान्त हो गया था। उसके बाद जनवरी, 1839 में उनकी धर्मपत्नी दिगम्बरी देवी की अकाल मृत्यु हो गई। यह जरूर उनके लिए गहरा आघात रहा होगा। उनका सब से बड़ा बेटा जैसा वे उसे देखना चाहते थे वैसा नहीं निकला था, यह भी एक कारण रहा होगा। सम्भवतः इन सब बातों ने मिलकर उनमें, कम-से-कम कुछ समय के लिए, अपनी गति-विधियों के क्षेत्र से दूर हो जाने की चाह जगा दी। इस तरह हम उन्हें ब्रिटेन की यात्रा की योजना बनाते पाते हैं।

यह योजना 9 जनवरी, 1842 को कार्यान्वित हुई जब वे अपने भानजे चन्द्रमोहन चटर्जी के साथ ब्रिटेन के लिए रवाना हुए। वेल्स, स्काटलैन्ड आदि ब्रिटेन के विभिन्न भागों को देखने और ब्रिस्टल में अपने प्रिय मित्र राममोहन की समाधि पर एक स्मारक बनाने के बाद, वे अगले वर्ष जनवरी में स्वदेश वापस आ गए।

ऐसा लगता है कि वे कुछ समय पेरिस में भी रहे थे और सम्राट लुई फिलिप ने उनके लिए एक स्वागत-समारोह आयोजित किया था, जिसके जवाब में उनकी ओर से भी वैसा ही शानदार समारोह आयोजित किया गया था।[1] उनका यूरोप में भी स्वागत होना, विशेष रूप से ब्रिटेन द्वारा स्वागत, इस यात्रा की उल्लेखनीय घटना थी।

लन्दन में स्वयं महारानी ने तो उनके लिए स्वागत-समारोह आयोजित किया ही, लार्ड मेयर ने भी मैन्शन हाउस में उनके सम्मान में एक भोज दिया। उनके सम्मान में जाम पेश करते हुए लार्ड मेयर ने कहा : "मेरी दाईं ओर

---

[1] क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'द्वारकानाथ ठाकुरर जीवनी'

विराजमान मेरे मित्र उच्च चरित्र और अपनी महान उपलब्धियों के कारण आज समाज के रत्न हैं। भारत-स्थित हमारे देशवासियों पर इनका सदा बहुत अनुग्रह रहा है, जिसके लिए हर ब्रिटिश नागरिक इनका आभारी है।"[2]

इसी तरह जब वे एडिन्बर्ग पहुंचे तो वहां भी उनका उतने ही उत्साह से स्वागत किया गया। उनके लिए आयोजित स्वागत-समारोह में लार्ड प्रोवोस्ट और नगर के अन्य अधिकारियों ने उनके आदर्श चरित्र को मान देते हुए उन्हें नगर के 'बर्जिस' (पौर) और 'गिल्ड ब्रदर' (गण-सदस्य) के रूप में अंगीकार किया। "ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के एक देशी व्यापारी" की तो बात ही छोड़िए, किसी ब्रिटिश नागरिक के लिए भी यह एक दुर्लभ सम्मान था। अतः, स्थानीय समाचारपत्र में इस खबर का सुर्खी के साथ छपना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। 'स्काट्समैन' ने लिखा: "एडिन्बर्ग के कौंसिल चेम्बर में कल एक ऐसी घटना देखने को मिली जो ग्रेट ब्रिटेन के इतिहास में अभूतपूर्व थी अर्थात् एक हिन्दु सज्जन को 'नगर-स्वतन्त्रता' भेंट की गई।"

भारतवासियों के एक प्रतिनिधि के रूप में द्वारकानाथ की जो छवि ग्रेट ब्रिटेन के लोगों के सम्मुख आई, उससे उनका मन इतना मुग्ध हुआ कि वे यह मांग करने लगे कि उनके भारत लौटने से पहले सरकार उन्हें कोई सम्मान प्रदान करे। लन्दन के 'बंगाल हैरल्ड' ने अपने एक सम्पादकीय में इस भावना को बहुत ही स्पष्ट अभिव्यक्ति दी। उसके प्रासंगिक अंश हम नीचे देते हैं: "हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि द्वारकानाथ ठाकुर-जैसे व्यक्ति को किसी सम्मान से विभूषित किये बिना हमारे सागर-तट से विदा होने दिया जाएगा। वह सम्मान उनके देशवासियों को यह दिखाएगा कि वर्तमान शासन उनके दुर्लभ गुणों की कितनी कद्र करता है।"[2]

1843 में कलकत्ता वापस आने पर द्वारकानाथ अपने नित्य के काम-काज में लग गए। पर, ऐसा लगता है कि उनका मन काम में नहीं लग पा रहा था। दो वर्ष में ही उन्होंने ब्रिटेन की दूसरी यात्रा करने का निश्चय कर लिया। जाहिर था कि वे अब सार्वजनिक जीवन से अवकाश ले लेने की मनःस्थिति में थे और अनिश्चित काल तक देश से बाहर रहने का फैसला कर चुके थे।

इस तरह 8 मार्च, 1845 को हम उन्हें दूसरी बार भारत से ग्रेट ब्रिटेन

---

1. क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर : द्वारकानाथ ठाकुरेर जीबनी
2. सत्येन्द्रनाथ ठाकुर : आमार बाल्य कथा

के लिए रवाना होते पाते हैं। इस बार उनका सब से छोटा बेटा नगेन्द्रनाथ उनके साथ था। सरी के एक गांव में लम्बे अरसे तक रहने की उन्होंने व्यवस्था कर ली। परन्तु अगले साल ही वे एक घातक बीमारी के शिकार हो गये, जिससे 1 अगस्त, 1846 को स्वदेश से बहुत दूर, 52 वर्ष की अपेक्षाकृत कम आयु में ही, उनका जीवन पूरा हो गया।

एक रंगारंग जीवन, जिसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत बड़ा था और जिसने बहुत तरह से नाम कमाया, इस तरह समाप्त हो गया। अपने बौद्धिक और हार्दिक सद्गुणों के कारण वे कलकत्ता के लोगों के बहुत-ही प्रिय हो गए थे। उनके निधन से जो स्थान खाली हुआ वह, जाहिर है, भरा नहीं जा सकता था। उनके उदाहरण से उनके पोते रवीन्द्रनाथ की कल्पना को निश्चय ही बड़ी प्रेरणा मिली होगी। दूसरी ओर, उनकी दूरदर्शिता ने परिवार को, उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद ही आर्थिक संकट से घिरने पर, सर्वनाश से बचा लिया। परिवार के निर्वाह के लिए उन्होंने जो न्यास-पत्र किया था उससे उनकी सन्तानों को इतनी आर्थिक सुरक्षा मिल गई कि वे फिजूलखर्ची तो नहीं कर सकते थे, पर आराम से रह सकते थे। इस तरह, परोक्ष रूप से, उन्होंने परिवार में सांस्कृतिक वातावरण की रचना में सहायता दी जिसे अगली पीढ़ियां उत्तरोत्तर बढ़ाती गईं।

2. परिवार

द्वारकानाथ ने अपने पीछे तीन बेटे छोड़े, जिनके नाम क्रमशः देवेन्द्र-नाथ, गिरीन्द्रनाथ और नगेन्द्रनाथ थे। उनमें से छोटे दो कम उम्र में ही चल बसे। सब से छोटे नगेन्द्रनाथ ने कोई सन्तान नहीं छोड़ी। दूसरे भाई गिरीन्द्रनाथ ने दो बेटे छोड़े, गणेन्द्रनाथ और गुणेन्द्रनाथ। दुर्भाग्य से, अपने पिता की तरह, उनकी भी कम उम्र में ही मृत्यु हो गई। उनमें से बड़े की कोई सन्तान नहीं थी, पर गुणेन्द्रनाथ को भगवान ने तीन बेटे दिये, जिनमें अवनीन्द्रनाथ सब से छोटे थे। उन्होंने बाद में बंगाल स्कूल आफ आर्ट (बंगला चित्रकला शैली) के संस्थापक के रूप में ख्याति अर्जित की। द्वारकानाथ अपनी वसीयत द्वारा द्वारकानाथ ठाकुर लेन वाली कलकत्ता की अपनी सम्पत्ति अपने पहले दो बेटों में विभाजित कर गये थे। इसमें दो इमारतें थीं——खूब लम्बा-चौड़ा पुश्तैनी मकान, जो अब 'महर्षि भवन' कहलाता है, और उसके दक्षिण-पश्चिम में उनका खुद का बनवाया हुआ मकान, जो 'बैठकखाना बाड़ी' कहलाने लगा था। बड़े भाई देवेन्द्रनाथ को पुश्तैनी मकान मिला और गिरीन्द्रनाथ को वह मकान दिया गया जो खुद द्वारकानाथ ने बनवाया था। यह मकान अब गिरा दिया गया है। पुश्तैनी मकान, जो देवेन्द्रनाथ के नाम पर है, रवीन्द्रभारती विश्व-विद्यालय ने ले लिया है और उसे अब एक संग्रहालय बना दिया गया है।

देवेन्द्रनाथ का जन्म 15 मई, 1817 को हुआ और यह विचित्र संयोग देखिए कि उसी साल हिन्दू कालेज स्थापित हुआ जिससे बंगाल के युवकों को पहली बार अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। आरम्भिक शिक्षा कुछ तो उन्होंने उस स्कूल में पाई जो बंगालियों को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए राममोहन द्वारा उत्तर कलकत्ता में खोला गया था, और कुछ हिन्दू कालेज में। 1834 में, किशोरावस्था में ही, उनके पिता द्वारका-नाथ ने उन्हें कालेज से निकाल कर अपने ही बैंक में अप्रैन्टिस रख लिया।

परन्तु देवेन्द्रनाथ में पावन और भक्तिमय जीवन की स्वाभाविक जन्म-जात लालसा थी। विचित्र बात यह थी कि लड़कपन में यह लालसा बिलकुल

सोई रही, और पिता की विपुल सम्पत्ति के कारण उन्हें जो ऐश और आराम प्राप्त था उसमें वे खूब रस लेते रहे। बाद में एक मानसिक आघात ने, जो उनके जीवन में अपने ढंग का पहला आघात था, उस स्वाभाविक लालसा को नाटकीय ढंग से एक-साथ जगा दिया। 1838 में, जब उनके पिता घर पर नहीं थे, उनकी दादी अलका देवी बहुत बीमार हो गई। उनके बचने की जब कोई आशा नहीं रही और अन्तकाल बिलकुल निकट नजर आने लगा तो उनका इलाज करने वाले चिकित्सक ने उन्हें भागीरथी के तट पर ले जाने की सलाह दी, क्योंकि उन दिनों मान्यता यही थी कि मनुष्य के लिए भू-लोक छोड़ने का सब से कल्याणकारी ढंग यही है। परन्तु चिकित्सक का अन्दाजा उतना सही नहीं निकला और वह धर्मपरायण महिला वस्तुतः तीन दिन बाद मरी। स्पष्ट था कि उसे घर से हटाने में जल्दी की गई थी। इस तरह देवेन्द्रनाथ को, जिनका अपनी दादी से बेहद लगाव था, उसकी मृत्यु तक नदी-तट पर उसके साथ ही रहना पड़ा। उसकी मौत से पहले, रात में देवेन्द्रनाथ के मन में वैराग्य की उत्कट लालसा जाग उठी। उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका जीवन बिलकुल बदल गया।

धनिक बाप के मनमौजी बेटे से, जो अब तक तुच्छ आमोद-प्रमोद में मस्त था, वे अब ऐसे पुण्यात्मा व्यक्ति में बदल गये जिसे मन को शान्ति और निश्चिंतता प्रदान करने वाले, मन-मन्दिर में बसे ईश्वर की तलाश थी। विधाता ने उन्हें इस समस्या का समाधान भी सुझा दिया। एक दिन प्रातः हवा में उड़ता किसी पुस्तक का एक फटा पन्ना उनके हाथ आ गया। ध्यान से देखने पर उस पर 'ईशोपनिषद्' का पहला मंत्र मिला, जिसका भाव था : "संसार में जो-कुछ भी है सब ईश्वर से व्याप्त है; संयम से जीवन का उपभोग करो; किसी के धन की चोरी मत करो।" इससे उन्हें अपनी समस्या के समाधान का संकेत मिल गया। अद्वैत रूप में ईश्वर की कल्पना से उनके धर्मनिष्ठ हृदय को बड़ी शान्ति मिली। उन्होंने सोचा, ईश्वर इतना महान और पावन है कि देवता के रूप की तो बात ही क्या, मनुष्य के रूप में भी उसके अवतार की कल्पना नहीं की जा सकती।

ऐसा लगता है कि इस विषय में राममोहन का उन पर गहरा असर पड़ा था, क्योंकि पिता के मित्र और अपने अध्यापक होने से उनके साथ उनका गहरा सम्पर्क रहा था। यहां यह अनिवार्य हो जाता है कि हम,

विषय से थोड़ा हटकर, उस धार्मिक आन्दोलन की कुछ चर्चा करें जो उस समय पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण देश में चल रहा था। धर्म के क्षेत्र में बंगाल के हिन्दू, या यूं कहिए कि भारत-भर के हिन्दू, एक ऐसे धर्माचार के आदी रहे हैं जिसमें ईश्वर की उपासना साकार रूप में की जाती है और उसका प्रतीक कोई देवता होता है। उन दिनों अंग्रेज, जो हमारे देश में शासक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे और ईसाई धर्म के अनुयायी थे, उपासना की विधि को मूर्ति-पूजा कहकर निन्दा करते थे। उनकी संस्कृति क्योंकि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियों का दावा कर सकती थी, इसलिए उसकी चकाचौंध हिन्दू कालेज में पढ़े तत्कालीन बंगालियों के लिए अपनी ह्रासशील संस्कृति के धर्मशास्त्रों से कहीं अधिक महत्त्व रखती थी। उनमें से बहुतों का हिन्दू धर्म से मोहभंग हो गया था और उन्होंने ईसाई धर्म अपना लिया था। राममोहन की भी कुछ ऐसी ही भावनाएं थीं, पर वे अपने राष्ट्रवादी दृष्टि-कोण के कारण इस समस्या का समाधान दूसरे तरीकों से खोज पाये। जो लोग उनकी विचारधारा के थे उनके लिए उन्होंने निराकार ईश्वर की उपासना की एक विधि चालू की जो 'ब्रह्मसूत्र' के मंत्रों पर आधारित थी। इस प्रक्रिया में वे एक ऐसी संस्था के संस्थापक बन गये जो निराकार ईश्वर की उपासना के पक्षपातियों को उसका अवसर प्रदान करती थी। उसका नाम उन्होंने 'आत्मीय सभा' रखा। यह बात 1815 की है। बाद में उन्हें यह आवश्यक लगा कि जो लोग उनके गिर्द एकत्रित हो गये थे उन्हें एक समाज में संगठित किया जाए। उसका नाम उन्होंने 'ब्रह्म समाज' रखा और 1828 में उत्तर कलकत्ता के जोरासांको इलाके में एक मकान किराए पर लेकर उस समाज के लिए एक उपासना-गृह भी खोल दिया। ब्रिटेन के लिए रवाना होने से पहले वे ब्रह्म समाज के लिए 55/1 चितपुर रोड पर एक उपासना-गृह बनवा चुके थे। 1833 में ब्रिस्टल में उनकी मृत्यु हो जाने के बाद यह नया समाज प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में किसी तरह बस चल रहा था।

ईश्वर को शायद यही मंजूर था कि राममोहन की मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ उसे देवेन्द्रनाथ भरें। राममोहन की तरह, उन्होंने भी निराकार ईश्वर की उपासना के लिए 'तत्त्वबोधिनी सभा' स्थापित की थी।

ब्रह्म समाज जब स्थापित हुआ तब वे केवल बारह साल के थे। बड़े होने पर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ने उन्हें ब्रह्म समाज और उसकी गतिविधियों की ओर खींचा। 1843 में वे उसे देखने गये और यह पता चलने पर कि वह उनके अपने सिद्धान्तों से मिलते-जुलते सिद्धान्तों पर ही कार्य कर रहा है, उन्होंने उसका कार्य-भार सम्भालने का निश्चय कर लिया और अपनी सभा भंग कर दी।

समाज के उद्देश्यों के प्रचार के लिए 1843 में उन्होंने 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' भी शुरू की। यद्यपि वह मुख्य रूप से इस नवजात समाज के ध्येय को आगे बढ़ाने के लिए ही निकाली गई थी, पर उनकी दूर-दर्शिता और कल्पनाशक्ति की बदौलत वह उस समय की प्रमुख सांस्कृतिक पत्रिका बन गई।

उनके सुयोग्य नेतृत्व में इस नए समाज ने फिर से खूब तरक्की की। शीघ्र ही उन्होंने इस नये धर्माचार को एक सुस्थापित धर्म का दर्जा देने का निश्चय कर लिया, और इस तरह उनके निर्देशन में ब्रह्म समाज 'ब्रह्म धर्म' में परिवर्तित हो गया। बंगाली संवत् 7 पौष, 1250 को, जो अंग्रेजी कैलेण्डर के अनुसार 23 दिसंबर 1843 था, उन्होंने अपने बीस अनुयायियों सहित इस नये धर्म की दीक्षा ली। तब से यह दिन इस समाज में एक पावन पर्व की तरह मनाया जाता है।

उनकी स्वाभाविक धर्मनिष्ठा को इस तरह अपनी उपयुक्त अभि-व्यक्ति के लिए आखिर अवसर मिल ही गया। सांसारिक विषयों से अपने को धीरे-धीरे हटाते हुए वे अपनी सारी शक्ति इस अंगीकृत धर्म की सेवा में लगाने लगे। उन्होंने ऐसी लगन से काम किया कि 1858 तक वे न केवल समस्त बंगाल में बल्कि उत्तर प्रदेश बरेली जैसे सुदूर शहर में भी उसकी शाखाएं स्थापित करने में सफल हो गए।

जो धर्म उन्होंने अंगीकृत किया था वह तो उनकी देखरेख में फूलता-फलता गया, पर परिवार के व्यापारिक प्रतिष्ठान, ध्यान न देने के कारण मुरझाते गये। जब तक उनके पिता द्वारकानाथ जीवित रहे तब तक तो फिर भी कोई बात नहीं थी, पर उनकी मृत्यु के बाद इस लापरवाही से उनको गम्भीर क्षति पहुंची। पिता की मृत्यु के बाद साल भर के अन्दर ही, 1847 में यूनियन बैंक फेल हो गया। अगले साल कार, टैगोर एण्ड कम्पनी के दिवालिया हो जाने से और भी गम्भीर परिणाम

सामने आए। यह एक साझे की फर्म थी, इसलिए कम्पनी के भुगतानों और उसके लेनदारों के कर्जों को चुकाने के लिए, जो एक भारी रकम होती थी, परिवार की सारी सम्पत्ति अधिग्रहण-योग्य हो गई।

परिवार के सामने एक गम्भीर आर्थिक संकट उपस्थित था । परन्तु देवेन्द्रनाथ ने अनुकरणीय नैतिक साहस का परिचय देते हुए उसका सामना निःस्पृह सहनशीलता से किया । इस दुर्भाग्य से उनके उच्च नैतिक गुण खुलकर सामने आए । पिता ने यदि दूरदर्शिता नहीं दिखाई होती तो इस आर्थिक तबाही के कारण उन्हें कंगाल हो जाना पड़ता। वे कुछ लगान वाली जागीरों के बारे में एक न्यास-पत्र कर गए थे, जिससे ऋण-शोधनार्थ नियुक्त प्रबन्धक उन्हें छू नहीं सकते थे। परन्तु देवेन्द्रनाथ इस परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाने को तैयार नहीं थे। बल्कि उन्होंने स्वयं अपनी ओर से यह प्रस्ताव रखा कि इन जागीरों की आय परिवार के ऋणों को चुकाने के लिए दी जाएगी । उनके इस अति उदार प्रस्ताव पर लेनदारों की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई, और परस्पर यह समझौता हो गया कि इन जागीरों की आय में से परिवार को प्रति वर्ष 25,000 रुपये भत्ते के रूप में दिए जाएंगे और शेष आय ऋणों को चुकाने के लिए खर्च की जाएगी। देवेन्द्रनाथ की प्रेरणा से परिवार खुशी के साथ इस अग्नि-परीक्षा में से गुजर गया। विलासिता का सभी सामान बेच दिया गया और खूब किफायत-शारी से रहते हुए फर्म के दिवालिया होने से कोई दस साल के अन्दर ही सभी ऋण चुका दिए गए । उसके बाद इन जागीरों की सारी आय परिवार को मिलने लगी, जिससे वह बहुत धनाढ्य न होते हुए भी आराम से रह सका।

देवेन्द्रनाथ कुछ वर्ष और ब्रह्म समाज में खूब उत्साह से सक्रिय रुचि लेते रहे। इस विषय में उन्हें उस समय के एक अत्यन्त मेधावी नवयुवक केशवचन्द्र सेन का सक्रिय सहयोग मिला । कलकत्ता के एक सुप्रतिष्ठित परिवार के वंशधर ने अपनी पैनी बुद्धि और अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति से देवेन्द्रनाथ का हृदय जीत लिया। उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील था और धार्मिक सुधार के लिए उसमें जबर्दस्त ललक थी। अतः बुजुर्ग नेता को उसे इस नए धर्म के ध्येय के लिए नियोजित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। यह जान ने पर कि वह उनका सुयोग्य

प्रतिनिधि हो सकता है, देवेन्द्रनाथ ने उसे 1862 में ब्रह्म समाज के 'आचार्य' के पद पर पहुंचाने में संकोच नहीं किया और 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि प्रदान की। उन दोनों के संयुक्त नेतृत्व में समाज की गति-विधियों का खूब प्रसार हुआ।

दुर्भाग्य से इसके कुछ वर्ष बाद ही फूट के बीज रंग लाने लगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज के नेताओं में अलगाव हो गया। समाज के युवा वर्ग के मन में उग्र विचार पैदा हो गए थे, और नए धर्म को किस दिशा में विकसित होना चाहिए इस विषय में उसके विचार देवेन्द्रनाथ से भिन्न थे। युवा वर्ग कुछ ऐसे उग्र कदम उठाना चाहता था जिनके फलस्वरूप इस समाज और बृहत्तर हिन्दू समाज के बीच खाई पैदा हो जानी थी। परन्तु देवेन्द्रनाथ चाहते थे कि उनके धर्म का राष्ट्रीय स्वरूप कायम रहना चाहिए और, इसीलिए, वे हिन्दुओं से सम्बन्ध तोड़ने के लिए कदापि तैयार नहीं थे। उनका विचार था कि हिन्दू-धर्म की चार-दीवारी में रहते हुए उसे इस नई निष्ठा के प्रगतिशील विचारों से अनु-प्राणित किया जाए। अपने प्रशंसकों द्वारा आयोजित एक स्वागत समारोह में अपने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए उन्होंने जो-कुछ कहा उससे इसकी पुष्टि होती है। "मेरा ध्येय," उन्होंने कहा, "यह है कि हिन्दुस्तान के हिन्दू समाज को, जिसके साथ मैं प्रेम के सूत्रों से गहरा जुड़ा हूं, पावन ब्रह्म धर्म (से घनिष्ठ सम्पर्क) के जरिये सुधारा जाए और उन्नत किया जाए।"

इसीलिए उन्होंने संयम से काम लेने की सलाह दी। परन्तु युवा वर्ग, जिसके नेता केशवचन्द्र थे, इतना उतावला था कि सावधानी बरतने की उनकी बात को सुनने को तैयार नहीं था। इससे दोनों नेताओं के बीच तनाव पैदा हो गया और वह इतना बढ़ा कि अन्त में केशवचन्द्र ने मूल समाज से अलग हो जाने और 'भारतवर्षीय ब्रह्म मन्दिर' नाम से एक नया समाज स्थापित करने का चरम मार्ग अपनाया। इसके लिए 1866 में उन्होंने एक अलग उपासनागृह बनवाया। देवेन्द्रनाथ पुराने समाज के नेता बने रहे और वह अब, नये समाज से अपनी पृथकता दिखाने के लिए, 'आदि ब्रह्म समाज' कहलाने लगा।

देवेन्द्रनाथ का सबसे अधिक ध्यान जहां राममोहन द्वारा स्थापित ब्रह्म धर्म के ध्येय के प्रसार पर था, वहां मूल हिन्दू-धर्म के लिए भी उनमें कम प्रेम नहीं था। हिन्दू समाज को बाहरी आक्रमणों से बचाना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। मौका आने पर वे हिन्दुओं का नेतृत्व करने से भी हिचकिचाते नहीं थे। एलिक्जेण्डर डफ नाम के एक ईसाई मिशनरी ने जब हिन्दुओं में से ईसाई भर्ती करने के लिए संदिग्ध तरीके अपनाये, तो ऐसा ही एक मौका आया। उसने अपने स्कूल के एक छात्र, उमेशचन्द्र सरकार को, जो अभी किशोरावस्था में ही था, ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए फुसला लिया। सरकार का क्योंकि और भी छोटी उम्र की एक लड़की से विवाह हो चुका था, इसलिए डफ के दिमाग में यह बात आई कि दोनों को एक-साथ ईसाई बनाया जाए, और जब वह लड़की कहीं जा रही थी उसे रास्ते में अगवा कर लिया गया। यह खबर जब देवेन्द्रनाथ के कानों तक पहुंची तो वे आग-बबूला हो गये और इस तरह के गन्दे हथकंडों को रोकने के लिए उन्होंने हिन्दू समाज की ओर से एक कड़ा आन्दोलन छेड़ दिया। उनकी प्रेरणा से, मिशनरियों के विरुद्ध जनमत तैयार करने को एक सार्वजनिक सभा बुलायी गई और मिशनरी स्कूलों के बहिष्कार का एक आन्दोलन शुरू किया गया।

केशवचन्द्र के लिए देवेन्द्रनाथ के हृदय में गहरा स्नेह था। अतः, उनसे अलगाव होने के बाद अपने धर्म की प्रचार व प्रसार संबंधी गति-विधियों में उनका उत्साह नहीं रहा। वे अब अपना समय हिमालय में जाकर ध्यान लगाने में बिताने लगे और एकांतवास करने लगे। ध्यान के लिए निर्जन स्थलों की उनकी खोज ही उन्हें बोलपुर के उस प्रसिद्ध सुनसान स्थल पर ले गई जहां उन्होंने शान्तिनिकेतन की स्थापना की। बाद में, यह जगह उनके पुत्र रवीन्द्रनाथ के साथ सम्बद्ध होने से विख्यात हो गई। अब वे कभी-कभार, बहुत आवश्यक होने पर ही, घर आते थे। एक बार जब वे इसी तरह घर आये तो अपने सब से छोटे बेटे रवीन्द्रनाथ को अपने साथ हिमालय ले गए, और वह डलहौजी के निकट बकरोटा में तीन महीने उन्हीं के साथ रहा। इस अल्पकालीन किन्तु घनिष्ठ संसर्ग का बालक रवीन्द्रनाथ के कच्चे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसकी चर्चा हम विस्तार से उपयुक्त स्थल पर [illegible]गे।

इसके बाद, बुढ़ापे से, देवेन्द्रनाथ का स्वास्थ्य बिगड़ता गया। डाक्टरों की सलाह पर, वे हिमालय के काफी ऊंचाई वाले स्थानों पर रहना छोड़ने को बाध्य हुए। तो भी, वे घर लौटने को तैयार नहीं थे।

1898 में, अपने अन्त:करण की आवाज पर ही, उन्होंने अपने पुश्तैनी मकान में लौटने का फैसला किया, ताकि वे स्वयं को मृत्यु के लिए तैयार कर सकें जो उन्हें अब बिल्कुल निकट लग रही थी। मकान की दूसरी मंजिल के अपने प्रिय कमरों में उन्होंने डेरा जमा लिया। उनका सारा समय ध्यान और धर्म-चर्चा में बीतता था और उनकी अपनी जरूरतों की देख-भाल उनके निजी सचिव प्रियनाथ शास्त्री और सबसे बड़ी विधवा बेटी सौदामिनी देवी—केवल ये दो व्यक्ति करते थे। जनवरी, 1905 में उनका देहान्त हो गया।

जैसा कि हम देख चुके हैं, देवेन्द्रनाथ में कितने ही परस्पर-विरोधी गुण थे। घर के मामलों से उनकी विरक्ति उनके लिए अपनी जागीर की आवश्यक देखभाल में बाधक नहीं बनी और, परोक्ष निरीक्षण द्वारा, वे उसका कुशलता से प्रबन्ध करते रहे। अपनी आदतों में वे बहुत ही कायदे और सलीके के आदमी थे और उनमें संतुलन की अच्छी समझ थी। परिवार के सदस्य उपयुक्त शिक्षा पा सकें और आराम से रह सकें—इसकी तो उन्होंने पक्की व्यवस्था कर दी, पर वे उन्हें विलासिता की कोई गुंजाइश देने को तैयार नहीं थे। इसके विपरीत, सांस्कृतिक प्रयासों या राष्ट्रीय हित की गतिविधियों को वे खुशी से सभी आवश्यक आर्थिक सहायता देते थे। संतुलन की इस समझ का ही, जो परिवार के आश्रित सदस्यों के प्रति उनके व्यवहार में साफ झलकती थी, यह फल था कि वे लोग अपने घर में ऐसा अनुपम वातावरण बना सके जिसमें जीवन के सभी शुभ पक्षों का बड़ी लगन से संवर्धन हुआ। धनी परिवारों के बच्चे साधारणत: जहां अपना पैसा और समय तुच्छ भोग-विलास में बर्बाद किया करते थे, वहां देवेन्द्रनाथ के बेटे, बेटियां और बहुएं—सब अनन्य भाव से सांस्कृतिक या इसी तरह के अन्य प्रयत्नों में जुटे रहते थे।

पिता के लिए बच्चों के मन में प्रेम, आदर और अपार श्रद्धा थी, और उनके इस तरह के रुख के जो शुभ परिणाम सामने आ रहे थे,

बच्चे उनकी खूब कद्र करते थे। उनकी यह भावना रवीन्द्रनाथ के निम्नलिखित शब्दों में बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है :

> "इस प्रकार, धन और समृद्धि के वातावरण में पलते हुए भी, हमें उन्होंने आडम्बर और भोग-विलास के कलंक से बचा लिया और, इस प्रक्रिया में, दौलत के सुनहरी पिंजरे का द्वार हमारे लिए कुछ हद तक खुला रखा गया, ताकि हम आत्मिक उपलब्धियों के खुले आकाश में उड़ने के अपने अधिकार को स्थापित कर सकें। यह मानना पड़ता है कि पिता की इस समझदारी की बदौलत, हम उन लोगों से अधिक भाग्यशाली रहे जो हमसे कहीं ज्यादा खुशहाल थे।"[1]

जो लोग भी उनके सम्पर्क में आते थे वे उनका अत्यन्त आदर करते थे, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उनमें अनेक ऐसे गुण थे कि समकालीन लोग उनकी सराहना किये बिना रह ही नहीं सकते थे। वे उन्हें 'महर्षि' कहने लगे जो उनके लिए बिल्कुल ठीक पदवी थी।

देवेन्द्रनाथ का परिवार खूब बड़ा था। उनके नौ बेटे और छः बेटियां हुईं। उनमें से एक बेटी और दो बेटे बचपन में ही चल बसे। वह बेटी उनकी सबसे पहली सन्तान थी और उन बेटों में से एक उनका सब से आखिरी बच्चा था। पर, सुविधा के लिए, हम यहां दूसरी बेटी सौदामिनी देवी को पहली बेटी और रवीन्द्रनाथ को, जो उनका चौदहवां बच्चा और आठवां बेटा था, परिवार का सबसे छोटा बच्चा कह रहे हैं। शेष में से जो वयस्क हुए, हम केवल उन्हीं की चर्चा करेंगे जिनका परिवार में एक सांस्कृतिक वातावरण बनाने में सक्रिय योग रहा है।

देवेन्द्रनाथ के दूसरे भाई का परिवार भी उसी चारदीवारी में एक अलग मकान में रहता था और परिवार की जागीरों के मुनाफे में उसका भी हिस्सा था। यद्यपि परिवार की ये दो शाखाएं अलग-अलग मकानों में रहती थीं, पर उनमें इतनी घनिष्ठता थी कि दोनों भाइयों के बच्चे बहुत-कुछ एक ही परिवार के सदस्यों की तरह व्यवहार

---

1. चरित्र पूजन

करते थे। अतः गिरीन्द्रनाथ के दो बेटे, गणेन्द्रनाथ और गुणेन्द्रनाथ भी उसी ग्रुप में आते हैं जिसने परिवार में अनुपम सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया। गिरीन्द्रनाथ का सब से बड़ा बेटा गणेन्द्रनाथ उम्र में देवेन्द्रनाथ के दूसरे बेटे सत्येन्द्रनाथ से बड़ा था, पर उनके सब से बड़े बेटे द्विजेन्द्रनाथ से छोटा था। इसलिए जहां द्विजेन्द्रनाथ को, उम्र में बड़े होने के कारण, सब से बड़े भाई 'बोड़ोदा' का पद प्राप्त था, वहां गणेन्द्रनाथ को दूसरे भाई 'मेजदा' का पद प्राप्त था। परिवार की दोनों शाखाओं में कितनी गहरी अन्तरंगता पनपी, यह इसका एक और प्रमाण है।

परिवार के 'बोड़ोदा' की भूमिका निभा सकने के लिए जो-जो गुण आवश्यक थे, सौभाग्य से द्विजेन्द्रनाथ (1840-1926) में वे सभी मौजूद थे। लौकिक धन-सम्पदा के प्रति पिता की तरह निरीह होने के कारण वे बहुत सादगी से रहते थे। साहित्य-साधना के लिए यद्यपि उनमें सब से अधिक लालसा थी, पर अपनी कल्पनाशील प्रवृत्ति के कारण वे तरह-तरह के शौकों की ओर आकर्षित थे। एक-जैसी रुचियों के कारण, कवि बिहारीलाल चक्रवर्ती से उनकी खूब घनिष्ठता हो गई और वे अक्सर उनके घर आते रहते थे। दोनों उस काल के अग्रणी कवि माने जाने लगे, और उनकी वजह से घर में एक साहित्यिक वातावरण पैदा हो गया। इससे परिवार के अन्य सदस्य भी साहित्य-साधना में रुचि लेने लगे और समय आने पर रवीन्द्रनाथ को अपनी काव्य-प्रतिभा को विकसित करने में बड़ी मदद मिली।

ज्योतिरिन्द्रनाथ ने अपने चौथे भाई के सहयोग से 1877 में 'भारती' नाम की एक साहित्यिक पत्रिका भी शुरू की और उसके पहले सम्पादक वे स्वयं बने। यह उस काल की बंगला की एक प्रमुख साहित्यिक पत्रिका मानी जाने लगी और 1925 में प्रकाशन बन्द होने तक, अपने लम्बे कार्य-काल में, इसने अपनी प्रतिष्ठा प्रायः बराबर कायम रखी। अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए किसी पत्रिका का सुलभ होना नवोदित लेखकों के लिए प्रेरणा का एक जबर्दस्त स्रोत होता है। रवीन्द्रनाथ को किसी प्रतिष्ठित पत्रिका में अपनी रचनाएं देने का पहला अवसर इसी से मिला। इस तरह 1878 और उसके अनुवर्ती वर्षों में ब्रिटेन में उनके पहले प्रवास के अनुभव 'यूरोप प्रवासीर पत्र' शीर्षक से इसी पत्रिका में प्रकाशित हुए।

परिवार के 'मेजदा' गणेन्द्रनाथ (1841-69) को काल के क्रूर हाथों ने भरी जवानी में ही छीन लिया। फिर भी, परिवार में एक सांस्कृतिक वातावरण बनाने में उनका काफी योग रहा। उनकी रंगमंच में बहुत अधिक रुचि थी और उसके शौक को बढ़ावा देने के लिए वे बराबर लालायित रहते थे। उनकी वजह से नाटक खेलना परिवार के सदस्यों का एक प्रमुख मनोरंजन हो गया। इससे न केवल नाटकों की रचना को, बल्कि नये नाटकीय तकनीकों के प्रयोग को भी प्रोत्साहन मिला। और, कालान्तर में इसने रवीन्द्रनाथ को इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा के विकास के लिए आवश्यक अवसर प्रदान किया।

गणेन्द्रनाथ में देशप्रेम की भावनाएं भी प्रबल थीं। इसीलिए उन्हें कुछ ऐसे, अपने ढंग के पहले, प्रयास करने की प्रेरणा हुई जिनका उद्देश्य बंगालियों में राष्ट्रीयता की भावनाओं को बढ़ावा देना था। अपने मित्र नवगोपाल मित्रा की सहायता से उन्होंने 'हिन्दू मेला' शुरू किया, जिसमें गीत और नाटक-प्रस्तुत कर देशप्रेम की भावनाएं उभारी जाती थीं और देहाती कारीगरी द्वारा बनायी गई चीजों की प्रदर्शनी लगा कर स्वदेशी वस्तुओं को लोकप्रिय बनाया जाता था। यह मेला पहली बार 12 अप्रैल, 1867 को लगा जिस दिन चैत्र संक्रांति, बंगला संवत् का अंतिम दिन था। दस साल से भी अधिक तक यह कलकत्ता के सांस्कृतिक जीवन का एक विशिष्ट वार्षिक पर्व बना रहा और जिस प्रयोजन के लिए शुरू किया गया था उसे कारगर ढंग से पूरा करता रहा। इससे देश के लोगों को आमतौर पर, और ठाकुर परिवार के सदस्यों को खास तौर पर, राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास के लिए आवश्यक प्रोत्साहन मिला। रवीन्द्रनाथ जब इतने बड़े हो गये कि इसके कामों में दिलचस्पी ले सकें तो उनके मन पर भी इस मेले का ऐसा ही असर हुआ। इस बात का प्रमाण मिलता है कि उन्होंने दो बार इसके कार्यक्रम में भाग लिया था। उन्होंने अपनी रची कविताओं का, जो देशप्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत थीं, इसमें पाठ किया था।

देवेन्द्रनाथ के दूसरे बेटे सत्येन्द्रनाथ (1842–1923) ने एक बहुत ही योग्य छात्र के रूप में नाम कमाया। वह छात्रों के उस दल में था जो 1857 में, कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना के तुरन्त-बाद उसके द्वारा संचालित पहली प्रवेश-परीक्षा में बैठा था। उसने वह परीक्षा प्रथम

श्रेणी में पास की और प्रेजीडेंसी कालेज में दाखिला ले लिया। 1863 में उसने इंडियन सिविल सर्विस की प्रतियोगिता परीक्षा में सफलता प्राप्त की और एक वर्ष के परीक्षण-काल के बाद उसकी बंबई प्रेजीडेंसी में नियुक्ति हो गई। इस प्रकार उसे इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य के रूप में नियुक्त होने वाले सर्वप्रथम भारतीय का गौरव प्राप्त हुआ।

सत्येन्द्रनाथ का उनकी सरकारी सेवा के दौरान रवीन्द्रनाथ पर विशेष प्रभाव पड़ा, और वे कुछ हद तक उनके भावी जीवन को आकार देने के लिए भी उत्तरदायी थे। उन्हीं की सलाह पर पिता इस बात के लिए राजी हुए कि रवीन्द्रनाथ को उच्च शिक्षा के लिए ब्रिटेन भेजा जाए। वस्तुतः, 1878 में इंग्लैंड जाते हुए और छुट्टियों के बाद वापस आते हुए, दोनों बार, रवीन्द्रनाथ के साथ वही थे। इससे रवीन्द्रनाथ को यूरोपीय समाज के निकट सम्पर्क में आने का मौका मिला और वे पाश्चात्य संगीत के आम सिद्धांतों को आत्मसात् कर पाए। उनकी संगीत-रचनाओं को अपनी एक अलग पहचान देने में इस चीज का भी कुछ योग रहा है।

देवेन्द्रनाथ के तीसरे बेटे हेमेन्द्रनाथ (1844–84) का चालीस वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। यहां उनका उल्लेख भी आवश्यक है। परिवार में एक सांस्कृतिक वातावरण पैदा करने और उसे राष्ट्रवादी रुझान देने में उनका योग कोई मामूली नहीं था। उन्हें बहुत तरह के शौक थे। चिकित्सा-विज्ञान में रुचि होने के कारण उन्होंने कुछ समय कलकत्ता के मेडिकल कालेज में शिक्षा प्राप्त की। उन्हें कुश्ती का भी बेहद शौक था और उन्होंने अपने छोटे भाइयों को, जिनमें रवीन्द्रनाथ भी थे, कुश्ती के लिए प्रोत्साहन दिया।

पर उनकी सबसे बड़ी साध अपने परिवार के लोगों को शिक्षित करने की थी। देशभक्त होने के कारण, वे इस बात पर जोर देते थे कि शिक्षा का माध्यम बंगला होनी चाहिए जो उनकी मातृभाषा है। उन दिनों लड़कियों का विवाह छोटी उम्र में ही हो जाया करता था और उन्हें पढ़ना-लिखना सीखने का अवसर नहीं मिलता था। इसलिए, उन्हें सबसे पहले परिवार की बहुओं को साक्षर करने की फिक्र हुई। उन्हें पढ़ाने-लिखाने का काम उन्होंने खुद अपने ऊपर ले लिया। जहां तक छोटे भाई-बहनों का सवाल था, उन्हें प्रारंभिक शिक्षा देने की जिम्मेदारी

भी उन्होंने खुशी-खुशी सम्भाली। रवीन्द्रनाथ कृतज्ञतापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि बंगला की मूल शिक्षा उन्हें बहुत-कुछ हेमेन्द्रनाथ से ही मिली।

ऐसा लगता है कि महर्षि के बेटों में, रवीन्द्रनाथ के बाद, उनका पांचवां पुत्र ज्योतिरिन्द्रनाथ (1849–1925) ही सब से अधिक प्रतिभाशाली था। अपने छोटे भाई की बृहत्तर उपलब्धियों की चकाचौंध में उनकी महानता किस कदर छोटी हो गई, तो भी, अपने स्वाभाविक उत्कर्ष के कारण बहुत-से क्षेत्रों में वे अपना विशिष्ट स्थान रखते थे। वे अच्छे प्यानोवादक थे और उसमें संगीत-सृजन के लिए सहज प्रवृत्ति थी। इस विषय में उनके मित्र अक्षय चौधरी और छोटे भाई रवीन्द्रनाथ ने उनकी बड़ी योग्यता से सहायता की। उन्होंने बंगला संगीत की एक स्वरलिपि भी तैयार की जिसका अभी भी बहुत चलन है। उन्होंने एक ऐसी पत्रिका भी निकाली जिसमें केवल संगीत-चर्चा रहती थी। कुछ अधिकारी विद्वानों का दावा है कि बंगला साहित्य में अपने ढंग की पहली पत्रिका थी।

परन्तु उनकी सब से अधिक रुचि नाटक लिखने और प्रस्तुत करने में थी। इस मामले में वे गणेन्द्रनाथ के योग्य उत्तराधिकारी थे। अत: छोटी उम्र में ही उनका एक सफल नाटककार और सफल अभिनेता बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। राजपूत इतिहास की एक वीरगाथा पर जिन दिनों वे 'सरोजिनी' नाम का नाटक लिख रहे थे, उन्हें अपना यह प्रतिभाशाली छोटा भाई, रवीन्द्रनाथ, बहुत ही अच्छा लगने लगा। उसके बाद तो वे दोनों साहित्य-साधना में घनिष्ठ सहयोगी हो गये।

वस्तुत: किशोर रवीन्द्रनाथ की प्रतिभाओं के विकास को सब से अधिक प्रोत्साहन, व्यक्तिगत रूप से, ज्योतिरिन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा से ही मिला। अभिरुचियों और प्रवृत्ति की समानता के कारण, अपने बड़े भाई के साथ उनकी घनिष्ठता हो गई और अपनी प्रच्छन्न क्षमताओं के विकास में उनसे उन्हें अमूल्य मार्गदर्शन और प्रोत्साहन मिला।

इस मामले में ज्योतिरिन्द्रनाथ की सुयोग्य धर्मपत्नी, कादम्बरी देवी की भी उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका रही। अपने इस प्रतिभाशाली देवर के लिए उसके हृदय में बहुत स्नेह था और अपने अपार स्नेह की वर्षा से उसने उनके बचपन के उन उदास दिनों की क्षतिपूर्ति कर दी जब उनका पालन लम्बे-चौड़े परिवार के एक उपेक्षित बच्चे की तरह हुआ था। स्वयं काव्य-रसिक होने के कारण, वह इस नवोदित कवि की प्रारम्भिक रचनाओं को

बड़ी सहानुभूति से सुनती थी। उसकी काव्य-प्रतिभा ठीक से पुष्ट हो, इसका वह खास तौर से ध्यान रखती थी। वह जहां कभी-कभी सराहना के शब्दों से उसे अपनी कविताओं के स्तर को और उन्नत करने को प्रोत्साहित करती थी, वहां साथ ही इस बात का भी ध्यान रखती थी कि परिपक्वता से पहले उसे अपनी शक्तियों का अहसास न हो, क्योंकि उसे डर था कि कहीं वह दम्भी न हो जाए जिससे आत्म-सुधार के उसके प्रयत्नों में ढील आ जाए।

3. जन्म और बचपन

रवीन्द्रनाथ का जन्म बंगला पंचांग के अनुसार 25 वैशाख, 1268 को हुआ, जो अंग्रेजी पंचांग के अनुसार 7 मई, 1861 था। परन्तु कालान्तर में, दोनों पंचांगों में अन्तर आ गया है जिससे अंग्रेजी तारीख पीछे रह जाती है। किन्तु उनका जन्म-दिवस नियमित रूप से बंगला पंचांग के अनुसार 25 वैशाख को ही मनाया जाता है।

वे अपने मां-बाप की आखिरी से पहली सन्तान थे। पर आखिरी बच्चा शैशवावस्था में ही मर गया और वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ही परिवार के सब से छोटे बच्चे और साथ ही सब से छोटे बेटे हो गए। हम उनका उल्लेख यहां इसी तरह करेंगे।

उनकी माता शारदादेवी के हृदय में यद्यपि अपने इस सब से छोटे बच्चे के लिए स्नेह की कमी नहीं थी, पर बार-बार के जापे से उसकी सेहत इतनी गिर गई थी कि वह खुद पर ध्यान दे ही नहीं सकती थी। अतः, शैशवावस्था में तो उन्हें धाय की देखरेख में रखा गया और जब वे थोड़े बड़े हो गए तो, जैसा कि स्पष्ट प्रमाण मिलता है, उन्हें नौकरों की निगरानी में सौंप दिया गया। यह प्रमाण हमें सीधा रवीन्द्रनाथ ठाकुर से ही, मुख्य रूप से उनकी आत्मकथा **'जीवनस्मृति'** में दिए गए उनके संस्मरणों में मिलता है।

---

1. परन्तु इस पुस्तक में उनके जीवन का पूरा ब्योरा नहीं है। यह उन्होंने नोबेल पुरस्कार पाने के बाद लिखी थी, इसीलिए उनके जीवन की कथा इसमें मध्य आयु तक ही पहुंची है। अपने जीवन के उत्तरकाल के बारे में लिखने का फिर उन्हें मौका ही नहीं मिला। परन्तु हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिये यह पर्याप्त है, क्योंकि इसमें उनके आरम्भिक जीवन का विशद चित्रण है और उसके बारे में जानकारी के लिए परोक्ष सामग्री को देखने की जरूरत नहीं रहती। इसके अतिरिक्त एक पुस्तक है जो केवल उनके बचपन के बारे में है और जब-तब अंकित बचपन के छुट-पुट दृश्यों के संस्मरण हैं, जो कभी-कभी वृद्धावस्था में लिखी गई कविताओं में संजोए गए हैं। ये रचनाएं उनके बचपन के बारे में जहां बहुमूल्य अतिरिक्त जानकारी देती हैं वहां, काव्यरूप में होने के कारण, इनमें अपना एक साहित्यिक सौन्दर्य भी है।

रवीन्द्रनाथ अपने जीवन के आदिकाल को भृत्यकराज-तन्त्र का स्टीक नाम देते हैं और उसकी तुलना तेरहवीं शताब्दी में दिल्ली पर शासन करने वाले गुलाम वंश से करते हैं। जब वे इतने बड़े हो गए कि कुछ याद रख सकें तो उन्होंने देखा कि उन्हें नौकरों की निगरानी में सौंपा हुआ है। नौकर उन्हें खिलाते-पिलाते थे, उनकी हरकतों पर नियन्त्रण रखते थे और वे बस नौकरों से ही मिल-जुल सकते थे। अत: उनका अपने-आपको नौकरों के राज की प्रजा समझना, जैसा कि वे अपने संस्मरणों में विनोदपूर्वक कहते हैं, कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पहला नौकर, जो बचपन में उनकी दिलचस्पी का केन्द्र बना, श्याम था। श्याम की सूरत-शक्ल रवीन्द्रनाथ की स्मृति में बिलकुल साफ है और वे उसका वर्णन करते हैं। यह नौकर बीच की काठी का एक बड़ा लड़का था, जिसका रंग काला और बाल लम्बे थे। विशेष रूप से उसका काम रवीन्द्रनाथ की देखभाल करना था। ऐसा लगता है कि कोई भी उसके काम पर नजर नहीं रखता था, इसलिए वह अपना काम बेदिली से किया करता था, और उनकी हरकतों पर नियंत्रण रखने के लिये संदिग्ध तरीकों का सहारा लेता था। एक चालाकी, जो उसे बहुत प्रिय थी, वह यह करता कि कमरे के फर्श पर खड़िया से एक घेरा खींच देता और बच्चे को उसके अंदर बैठा देता। वह बच्चे को खबरदार कर देता कि घेरे की लकीर को पार नहीं करना है, और यह धमकी दे देता कि अगर उसका कहना नहीं माना गया तो इसका नतीजा खराब होगा। कारण जो भी रहा हो, बालक भयभीत रहता था और विरोध करने की क्षमता उसमें नहीं रही।

इस तरह, बालक रवीन्द्रनाथ के लिए दिन-भर उस घेरे में नजरबंद रहने के सिवा कोई चारा नहीं था। सौभाग्य से, वहां एक खिड़की थी जो उसकी पहुंच के अन्दर थी और दक्षिण की तरफ खुलती थी। खिड़की के पल्ले झिलमिलीदार थे। मकान के अहाते के दक्षिण में कुछ खुली जमीन थी। उसमें एक पोखर था जिसके दक्षिणी तट पर नारियल के पेड़ों की कतार और पूर्वी तट पर बरगद का एक पुराना पेड़ खड़ा था। खिड़की के पल्लों को खोल देने से यह पूरा दृश्य उसकी आंखों के सामने आ जाता। बाहरी जगत के साथ आंखों के इस सम्पर्क से उसे समय बिताने के लिए एक मनोविनोद

मिल जाता। पोखर नहाने-धोने के काम आती थी। तरह-तरह के लोग अलग-अलग समय पर वहां आते और उनके नहाने-धोने के तरीके भी अलग-अलग होते। इससे बदलते दृश्यों का एक लगातार नजारा उसे देखने को मिलता और उसकी कैद थोड़ी सह्य हो जाती। दिन चढ़ता जाता और जब तीसरा पहर होने लगता तो पोखर बिलकुल सूनसान हो जाता। तब उस वेला में केवल बत्तखें और हंस ही पोखर में तैरते और वही उसके साथी होते।

बोरियत की इस जिन्दगी का, जिसकी कुछ क्षतिपूर्ति पुश्तैनी मकान के दक्षिणी अहाते के दृश्य की सुन्दरता से हो जाती थी, रवीन्द्रनाथ के मन पर, जाहिर है, गहरा असर पड़ा। वृद्धावस्था में लिखी अपनी एक कविता में, जो उनके एक काव्य-संग्रह[1] में संकलित है, उन्हें वह बात फिर याद आती है। उसका भावानुवाद इस प्रकार है:

"पुराने मकान के कमरे के एक कोने में
मुझे कैद कर दिया जाता,
जिसे छोड़ना सख्त मना था।
नौकर मधुकर का गीत गुनगुनाते हुए
पान लगाता रहता और दीवार पर
अपने हाथ पोंछता रहता।
कमरे में पत्थर के चौकों का फर्श था,
खिड़की पर झिलमिलीदार पल्ले थे।
बाहर नीचे पक्के घाटवाला पोखर
और अहाते की दीवार के पास
नारियल के पेड़ों की कतार थी।
बरगद का एक पुराना पेड़
मोटी-मोटी जड़ों और जटाओं से
पूर्वी तट को पकड़े खड़ा था।"

जबर्दस्ती थोपी गई कमरे की इस कैद से और बाहर की प्रकृति की झांकियों से बालक के मन में प्रकृति से सीधे सम्पर्क की गहरी चाह जाग गई।

---

1. पुनश्च बालक

उसे लगता कि प्रकृति उसे बुला रही है, पर वह उसके पास जा नहीं सकता। कैद से छूटने की यह लालसा उसके बाल मन में निराशा के आवेग उठाती रहती। अतः, इसका परवर्ती जीवन में रची गई एक कविता की विषय-वस्तु बनना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[1] कविता दो पक्षियों के बारे में है जो एक बार मिले थे--एक पिंजरे में कैद है, जो जाहिर है उनका स्वयं का प्रतीक है, और दूसरे को बाहर पूरी स्वतन्त्रता है, जो उस स्थिति का प्रतीक है जिसके लिए वे लालायित थे।

प्रकृति के प्रति अपने गहरे प्रेम के साथ वे जैसे-जैसे बड़े होते गये, शहरी जीवन से उन्हें उतनी ही वितृष्णा होती गई। अंततः उन्हें देहाती इलाकों के खुले क्षेत्रों में रहने में ही आराम मिला। इस तरह बचपन के इस अनुभव का उनके काव्य पर ही नहीं, बल्कि उनकी जीवन-प्रणाली पर भी गहरा असर डाला।

लेकिन नौकरों के राज की उनकी अधीनता सतत दुःख की ही कहानी नहीं थी। नौकरों में ईश्वर, जो बृजेश्वर[2] भी कहलाता था, एक शानदार अपवाद था। अपने ढंग का वह एक अलग इन्सान था। वह पहले गांव की एक पाठशाला में अध्यापक रह चुका था। इसलिए, अपने व्यवहार और बातचीत में उसकी कोशिश आम नौकरों से अपने को अलग दिखाने की रहती थी। अपने संस्मरणों में रवीन्द्रनाथ उसका विस्तार से चित्रण करते हैं, और उसकी साहित्यिकता को बढ़ाने के लिए उसमें काफी विनोद भर देते हैं। यह नौकर अपने साथी नौकरों से काफी अलग-थलग रहता था और परिवार के सदस्यों के साथ बात करते समय जान-बूझकर साहित्यिक भाषा बोलता था।

परिवार के बच्चे शाम को उसी की निगरानी में होते और उन्हें खाने-पीने की चीजें देने का काम भी, लगता है उसी के नियन्त्रण में था। पढ़ा-लिखा होने से उसने बच्चों को रात में व्यस्त रखने का एक अच्छा तरीका निकाल लिया था। वह एक कमरे में उन्हें अपने गिर्द इकट्ठा कर लेता और लैम्प की मंदी रोशनी में, जिससे दीवार पर बड़ी-बड़ी परछाइयां पड़तीं—क्योंकि बिजली तो उन दिनों थी नहीं—उन्हें बंगला रामायण और महाभारत पढ़कर सुनाता। छिपकलियां दीवार पर शिकार की तलाश में

---

1. सोनार तरी, दुई पाखी

2[illegible]

घूमती रहती और बाहर बरामदे में छोटे-छोटे चिमगादड़, चक्कर काटते रहते। पर रवीन्द्रनाथ, पूरी एकाग्रता से सुनते रहते। उन्हें वह प्रसंग तो खास तौर से मजेदार लगा जिसमें लव और कुश, जुड़वां भाई, यज्ञ का घोड़ा छीन लेते हैं और अपने पिता और चाचा को युद्ध में परास्त कर देते हैं।

ऐसा लगता है कि ईश्वर बच्चों का यह मनोरंजन बिलकुल मुफ्त में नहीं करता था। उसकी देखरेख में जो बालक थे उन्हें खाने-पीने की चीजों के एक अच्छे भाग से वंचित कर, वह परोक्ष रूप से, उनसे उसकी फीस वसूल करता था। असलियत यह थी कि उसे अफीम की लत थी, और इस लिए तर माल की उसे जरूरत रहती थी। परोक्ष तरीके अपना-कर वह अपने लिए वह जुटाता था। बालक रवीन्द्रनाथ, अत्यन्त बुद्धिमान होने से, लगता है, उसका मकसद भांप गया था और उसे इस बात का अहसास कराए बिना स्वेच्छा से अपना सहयोग देता रहता था। इस तरह उसके हिस्से का दूध जब ईश्वर उसे देने लगता, तो वह सारा दूध पीने में आनाकानी करता, ताकि जो बच जाए उसे ईश्वर हथिया सके। इसी तरह वह दोपहर के भोजन में जान-बूझकर मुरमुरे जैसी सस्ती चीजें मांगता, ताकि नौकर भोजन के लिए दी गई रकम में से कुछ बचा सके और उसे अपनी जरूरतों के लिए इस्तेमाल कर सके।

बालक रवीन्द्रनाथ जब नौकरों द्वारा लगाई गई पाबंदियों की अवज्ञा कर सकने जितना बड़ा हो गया तो वह अपना समय उस लम्बे-चौड़े पुश्तैनी मकान के विभिन्न भागों की छानबीन में बिताने लगा। मकान की पहली मंजिल के ऊपर बहुत बड़ी छत थी जिसके चारों ओर की मुंडेर, उसके अपने कद के हिसाब से, इतनी ऊंची थी कि वह इर्द-गिर्द का दृश्य देख नहीं सकता था। दोपहर को जब वह सूनी होती तो वह चुपचाप वहां पहुंच जाता और मुंडेर की झिरियों में से झांक कर बाहरी जगत की झांकी लेता। इस तरह वह मकान से सटे बाग और नारियल के पेड़ों की कतार के दृश्य को निरन्तर देख सकता था। पड़ोस का एक तालाब और उसी के पास बनी गौशाला भी उसे दिखाई दे जाती। कुछ दूरी पर मकानों की छतें दिखाई देतीं जिनका सिलसिला क्षितिज तक फैला था। उनकी विभिन्न ऊंचाइयों से शहर के क्षितिज पर एक विचित्र नक्काशी बन जाती। सिर के ऊपर दोपहर के सूरज

की चमचमाती रोशनी होती, जिसमें उड़ती चीलें चलते-फिरते धब्बों-सी नजर आतीं और उनकी तीखी चीखों से ऊंघते नगर की खामोशी कभी-कभी टूट जाती।

रवीन्द्रनाथ के बचपन में पिता अधिकतर घर से बाहर ही रहते थे और अपने दिन हिमालय के पहाड़ों में बिताते थे। इसलिए मकान की तीसरी मंजिल पर उनके जो कमरे थे वे बन्द रहते थे। जिज्ञासा की दुःसाहसिकता से प्रेरित रवीन्द्रनाथ चोरी-छिपे मकान के उस हिस्से में पहुंच जाता और चुपचाप कुंडा सरकाकर दरवाजा खोल देता। इस तरह अन्दर घुसकर वह दक्षिणी कमरे के एक कोने में रखे सोफे पर जम जाता और वहीं अपना समय बिताता। कमरों से लगे स्नानागार में हाल ही में स्वच्छ पानी का नल लगवाया गया था। उसका जिज्ञासु मन उसके साथ कुचर-कुचर करने के प्रलोभन को किसी भी तरह रोक नहीं पाता था। अतः, वह वहां जरूर पहुंच जाता और नल खोलकर उसकी धार के नीचे नहाता। नहाने की जरूरत के कारण नहीं, बल्कि नल को चलाने की महज खुशी के कारण ही वह ऐसा करता।

बाहर के विशाल अहाते में जो चीजें थीं वे भी उसके मन को खूब आकर्षित करतीं। मकान के उत्तर में खुली जमीन थी जो 'गोलाबाड़ी' कहलाती थी, क्योंकि पहले वह अनाज जमा करने के काम आया करती थी। यह ऊसर जमीन थी जो किसी भी काम नहीं आती थी। पर रवीन्द्रनाथ के लिए वह रहस्यमय थी, और यदि वह नौकरों की निगाह बचाकर चुपके से वहां पहुंच जाता तो इसे एक उपलब्धि मानता और इससे उसे काफी सन्तोष मिलता।

बचपन में पूरा जगत ही उसकी आंखों को रहस्य में लिपटा लगता था। उसे लगता कि प्रकृति चारों ओर पहेलियां फैला कर और उससे उन्हें सुलझाने की मांग कर उसके साथ चालाकी-भरा खेल, खेल रही है। सारा जगत उसके लिए आंखों के आगे खुलता एक चित्ताकर्षक पृष्ठ था, जिसे उसे पढ़ना और समझना था। विशेष रूप से विस्मयकारी उसके लिए यह तथ्य था कि प्रकृति में चीजें बढ़ती हैं। उदाहरण के लिए, पौधा किसी समय सिर्फ एक बीज होता है जो मिट्टी में बो देने से अंकुर में फूट पड़ता है और फिर बराबर बढ़ता जाता है।

विकास की इस प्रक्रिया को देखने के लिए उसने मकान के बरामदे के एक कोने में कुछ मिट्टी और कूड़ा-करकट इकट्ठा कर लिया और उसमें

शरीफे का बीज बोकर वह उसे पानी देने लगा। ख्याल यह था कि इस तरह उसे बढ़ते और फिर फूलते-फलते देखना रोमांचकारी होगा। निःसन्देह यह ऐसी इच्छा थी तो पूरी नहीं हो सकती थी, क्योंकि बीज मकान के अन्दर मुट्ठी-भर मिट्टी में ही बोया गया था। यह घटना मन में इतना घर कर गई कि बुढ़ापे में लिखी उनकी एक कविता का विषय बनी। उसकी प्रासंगिक पंक्तियों का भावानुवाद यहां उपयुक्त रहेगा।

"शरीफे के बीज को खुद बोने
और उसका फल तोड़ने की
मन में बड़ी साध थी,
मैं तब सिर्फ नौ साल का था।
किसी चीज में से कोई चीज
कैसे उग आती है,
सोचकर बड़ी हैरानी होती थी।
पहली मंजिल पर पढ़ने के कमरे से सटा
विशाल बरामदा था,
वहां एक कोने में (इस काम के लिए)
मैंने मिट्टी और कूड़ा-करकट इकट्ठा कर लिया।"[1]

लेकिन जो चीज रवीन्द्रनाथ के मन को सब से ज्यादा आकर्षित करती थी वह था, मकान से बाहरी अहाते में फूलता-फलता प्रकृति का छोटा-सा साम्राज्य। मुख्य इमारत के पूर्व और दक्षिण दोनों तरफ खुली जगह थी। दक्षिणी भाग में एक पोखर था जिसके दक्षिण में नारियल के पेड़ों की गोट जड़ी थी और पूर्वी तट पर कोने में बरगद का एक पुराना पेड़ चौकीदार की तरह खड़ा था। पूर्वी भाग में खूब कायदे से बना एक बाग था, वह भी नारियल के पेड़ों की एक कतार से सजा था।

बचपन के शुरू के दिनों की अपनी बोरियत को खत्म करने में प्रकृति के इस छोटे-से साम्राज्य से बालक रवीन्द्रनाथ को काफी मदद मिलती थी। जब वह थोड़ा बड़ा हो गया तो इससे उसे प्रकृति का वह संसर्ग मिला जिसकी उसे बड़ी जरूरत थी। इससे केवल उसके मन को ही ताजगी नहीं मिली, बल्कि उसकी काव्य-शक्ति के विकास में भी मदद मिली। प्रकृति के विभिन्न

1. परार छवि, आतार विचि

रूप केवल उसकी सौंदर्य-चेतना को ही भले नहीं लगते थे, बल्कि उसकी कल्पना के विकास में भी योग देते थे।

शहरी जीवन की मरुभूमि में ग्राम्य वातावरण का यह जो छोटा-सा उद्यान था, इसकी उनकी काव्य-कल्पना को पुष्ट करने में एक बड़ी भूमिका रही। वस्तुत: इससे उन्हें वैसा ही उल्लास मिला जैसा वर्ड्सवर्थ को बचपन में अपने को पर्वतों और घाटियों के चतुर्दिक् प्रसार के बीच पाकर मिला था, जहां इधर-उधर झरने झर रहे थे और झीलें फैली थीं। रवीन्द्रनाथ के कवि-मन पर इसका कितना गहरा प्रभाव पड़ा, इसका अन्दाजा वृद्धावस्था में लिखे उनके एक संस्मरण के इस उद्धरण से लगाया जा सकता है:

> "जल से भरे बादलों के एक-साथ घिर आने का कौतुक, नारियल के पेड़ों को प्रचण्ड वेग से झकझोरते तूफान के आकस्मिक झपाटे, गर्मी की दुपहरी का भयानक सूनापन, और शरद् में प्रात: ओस के आवरण में से उभरता शांत सूर्योदय मेरे मन को अपने साहचर्य की घनिष्ठता से व्याप्त रखते थे।"[1]

अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि प्रात: सोकर उठने पर अपना सबसे पहला कर्त्तव्य उसे प्रकृति से भेंट करना ही लगता था। प्रभात के सूर्य का स्वागत करने के लिए वह सूर्योदय से बहुत पहले ही उठ जाने का खास ख्याल रखता और पूर्व की ओर के बाग में पहुंच कर नारियल के पेड़ों को अपनी मृदु किरणों से चमकाते सूर्योदय के दृश्य का आनन्द लेता। रवीन्द्रनाथ के संवेदनशील नेत्रों के लिए उसमें इतना सौन्दर्य था कि वृद्धावस्था में लिखी एक कविता में वह उन्हें फिर याद आता है। उसकी कुछ पंक्तियों का भावानुवाद इस प्रकार है।

> "कौवों की कां-कां से बहुत पहले ही
> मैं बिस्तर से उठ जाता
> और बाग में पहुंच जाता,
> ताकि नारियल के कांपते पत्तों पर बरसते
> सूर्योदय के वरदान को देखने से
> वंचित न रह जाऊं।"[2]

---

1. रिलिजन आफ मैन, द विजन
2. शेष सप्तक संख्या 46

रवीन्द्रनाथ की मां यद्यपि स्वयं उसपर ध्यान नहीं दे पाती थीं, पर उसके लिए उनके हृदय में विशेष स्नेह था और यह स्वाभाविक था, क्योंकि वह उनका सबसे छोटा बच्चा था। बेटे में भी उस स्नेह के लिए वैसी ही ललक थी। उनका ध्यान जबर्दस्ती अपनी तरफ खींचने या अपने मतलब के लिए उन्हें उनके जीवन के छोटे-मोटे सुखों से वंचित करने तक में उसे कोई झिझक नहीं होती थी। रवीन्द्रनाथ के संस्मरणों में से एकत्रित कुछ बातें इस मधुर सम्बन्ध की मनोहरता को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं।

बचपन के प्रारंभ में रवीन्द्रनाथ को पढ़ाने के लिए प्राइवेट अध्यापक लगाए गए थे। कभी-कभी उस पढ़ाई से उसका मन इतना ऊबता कि वह उससे बचने के बहाने ढूंढता। ऐसे मौकों पर आमतौर पर वह यह चाल चलता कि पेट में दर्द का दिखावा करने लगता और मां से यह विनती करता कि उसे पढ़ाई से छुट्टी दे दी जाए। उसकी चाल को भांपना मां के लिए जरा भी मुश्किल नहीं था, पर अपने स्नेह के बाहुल्य के कारण वे उसकी विनती स्वीकार किए बिना नहीं रहतीं।

मां से अपनी बात मनवाने के लिए वह प्रायः एक और भी तरीका अपनाता था। बृजेश्वर से रामायण सुनने के बाद कायदे से उसे सो जाना चाहिए था पर उसे परियों की कहानियां सुनाकर सुलाना पड़ता। मां की एक काकी, जो उसी घर में रहती थी, परियों की बड़ी अच्छी कहानियां सुनाती थी। अतः रवीन्द्रनाथ की यही इच्छा रहती कि इस काम के लिए उस पर ही अधिकार जमाया जाए। पर इससे मां को असुविधा होती थी, क्योंकि वे उसके साथ उस समय ताश खेला करती थीं। अक्सर ही ऐसा होता कि रवीन्द्रनाथ नानी का सारा ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए इतनी बुरी तरह मचलता कि मां को हार कर अपना ताश का खेल बंद करना पड़ता, ताकि उसके बेटे को परियों की कहानियों का आनन्द मिल सके।[2]

रवीन्द्रनाथ अभी बच्चे ही थे कि एक ऐसी घटना घटी जो कई दृष्टियों से दिलचस्प है। पहली बात तो यह कि इससे मां के लिए बच्चे की गहरी चिन्ता व्यक्त होती है। दूसरे, इसका मजेदार फल यह निकला कि परिवार के इस सबसे छोटे बेटे और घर के सर्वेसर्वा के बीच सहज सम्पर्क का रास्ता खुल गया। यह पिछली शताब्दी के सातवें दशक की बात है जब भारत के

1. छेलेबेला

ब्रिटिश इलाके पर रूसी हमले की आशंका से लोगों में एक सनसनी फैल गई थी। कुछ समय में यह खबर जब मां के कानों तक पहुंची तो पति की सुरक्षा की चिन्ता उन्हें परेशान करने लगी, क्योंकि वे अपने दिन भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत में ही बिता रहे थे। वे चाहने लगीं कि उन्हें एक पत्र भेजकर उनसे घर लौटने की प्रार्थना की जाए।

उनमें स्वयं में तो पत्र लिखने की क्षमता थी नहीं, इसलिए उन्होंने परिवार के बड़े लोगों से इस काम में मदद मांगी। पर किसी ने भी कुछ नहीं किया, शायद इस लिए कि वे इस आशंका को कोई महत्व नहीं दे रहे थे। तब वे बालक रवीन्द्रनाथ के पास पहुंची और उससे उन्होंने पत्र लिखने को कहा। रवीन्द्रनाथ ने इसमें खूब उत्साह दिखाया। पत्र कैसे लिखा जाता है यह उसे स्वयं मालूम नहीं था, पर उसने दफ्तर के मुंशी की सहायता से, जो परिवार की संपत्ति का प्रबंध करता था, किसी न किसी तरह इस तरह का एक पत्र आखिर भेज ही दिया। पत्र उसके पिता के पास पहुंच गया और उन्होंने उसका उत्तर देने का कष्ट किया। उत्तर में क्या कहा गया था, यह आइए हम स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विवरण से ही सुनें :

> "मुझे अपने पत्र का उत्तर मिला। पिताजी ने जवाब में लिखा कि डरने की कोई बात नहीं है और यदि जरूरत पड़ी तो वे खुद रूसियों को खदेड़ देंगे। आश्वासन के इस पक्के वचन से रूसियों के बारे में मां की आशंका, लगता था, दूर नहीं हुई, पर पिता जी के सामने जाने की मेरी हिम्मत कई-गुना बढ़ गई।"[1]

रवीन्द्रनाथ की मां की बैठक तीसरे पहर मकान के पूर्वी भाग की छत पर लगती थी, जहां परिवार की औरतें उनके पास जमा होकर गप-शप किया करती थीं। रवीन्द्रनाथ जब कुछ बड़ा हो गया और स्कूल जाने लगा तो उसे इस बैठक में शामिल होने की छूट मिल गई। विज्ञान या इतिहास का कोई नया तथ्य यदि उसके हाथ आ जाता तो उसे इस बैठक में बताने का वह खास ख्याल रखता। स्नेहमयी मां तब उसकी ओर प्रशंसा की दृष्टि से देखने और उसकी पीठ थपथपाने में सकुचाती नहीं थी।

ऐसी थी रवीन्द्रनाथ की मां। दुर्भाग्य से उसकी काफी कम उम्र में ही मृत्यु हो गई। रवीन्द्रनाथ तब मुश्किल से चौदह साल के रहे होंगे और उसका

---

1. जीवन-स्मृति, पितृदेव

अभाव उन्हें बहुत ही खला। मां की मृत्यु के बहुत दिन बाद तक भी उसकी स्नेहमयी उंगलियों के सुखद स्पर्श की याद उन्हें बड़ा चैन देती रही। अपने संस्मरणों में उन्होंने उन उंगलियों की तुलना बेल की पीत-श्वेत कलियों से की है।

4. शिक्षा

ठाकुर परिवार में मन और शरीर दोनों को सभी तरह का प्रशिक्षण देने की सुचारु व्यवस्था थी। यथा समय रवीन्द्रनाथ को वह प्रशिक्षण लेना पड़ा। उनके तीसरे भाई हेमेन्द्रनाथ ने उसके निरीक्षण का दायित्व खुद संभाला। प्रशिक्षण में पढ़ाई के अलावा, शारीरिक विकास के लिए कुश्ती और ललित कलाओं में रुचि जगाने के लिए संगीत भी शामिल था। अपनी पुस्तक छेलेबेला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस व्यवस्था का सुविस्तृत विवरण दिया है।

दिन में पहले कुश्ती सिखाई जाती। हीरासिंह पहलवान, जिसका नाम अंधा पहलवान पड़ गया था, परिवार के लड़कों को व्यायाम कराने के लिए नियुक्त था और हेमेन्द्रनाथ, जो स्वयं अच्छे पहलवान थे, इसका निरीक्षण करते थे। इस काम के लिए मकान के उत्तर की वह खुली जगह नियत थी जो 'गोलाबाड़ी' कहलाती थी। व्यायाम के लिए रवीन्द्रनाथ को सुबह काफी जल्दी, सूर्योदय से बहुत पहले, बिस्तर से उठ जाना पड़ता था। जाहिर है कि सुबह का यह प्रशिक्षण, खास कर सर्दियों में, रवीन्द्रनाथ को अच्छा नहीं लगता था। पर हेमेन्द्रनाथ द्वारा लागू किया गया अनुशासन इतना कड़ा था कि वे उससे बच नहीं सकते थे। इस व्यायाम का उसमें कोई योग रहा या नहीं यह कहना तो कठिन है, पर यह सच है कि काफी वृद्धावस्था तक भी रवीन्द्रनाथ का स्वास्थ्य खूब अच्छा रहा।

सुबह ठीक सात बजे पढ़ना-लिखना सिखानेवाला अध्यापक आ जाता। जैसा कि हेमेन्द्रनाथ का आग्रह था, शिक्षा बंगला में दी जाती और उसमें तीन विषय होते : गणित, बंगला पुस्तकों का पाठ, जिनमें ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर की क्लासिक रचना 'सीतार वनवास' भी शामिल थी, और प्रारम्भिक विज्ञान। ये पाठ पूरी सुबह तक चलते रहते। ये रवीन्द्रनाथ को अच्छे लगते हों, यह बात नहीं थी। वस्तुतः, वह तो मन में यही मनाता रहता कि वह खुद या फिर अध्यापक ही बीमार पड़ जाए। पर यह मनोकामना कभी पूरी हुई नहीं।

इनके अलावा संगीत के पाठ थे। सौभाग्य से छुटपन में रवीन्द्रनाथ को विष्णु नाम के एक अध्यापक को सौंपा गया। वह कोई प्रसिद्ध संगीतज्ञ

तो नहीं था, पर संगीत के पाठ इस असाधारण बच्चे के लिए रुचिकर कैसे बनाए जाएं—यह वह जानता था। उसने शिष्य की रुचि को जगाना है—यह उसे मालूम था और इसके लिए उसने परम्परागत ढंग छोड़ अपने पाठों के लिए आम बंगला शिशु गीतों का उपयोग किया। इसका बच्चे पर वांछित प्रभाव पड़ा और छुटपन में ही उसमें संगीत के लिए पीठिका तैयार होने में मदद मिली।

ऐसा लगता है कि, अन्य विषयों की तरह, संगीत में भी रवीन्द्रनाथ को ऊपर से थोपे गये पाठों के प्रति स्वाभाविक अरुचि थी। दूसरी ओर, उनमें यह अद्भुत क्षमता थी कि, खुली छूट होने पर, धुनें उनको उस्तादों को महज सुनकर ही याद हो जाती थीं। अपनी इस विशेषता का उन्हें खुद भी अहसास था। यही वजह है। कि बाद में उन्हें उस समय के एक चोटी के उस्ताद यदुभट्ट ने जो तालीम दी, वह बिलकुल बेकार रही।[1]

कविता के लिए रवीन्द्रनाथ में यदि जन्मजात प्रेम न होता तो, लगता है, थोपे गए कामों के प्रति उसका स्वाभाविक विरोध उसके पढ़ाई-लिखाई को पाठों को भी चौपट कर देता। उसकी सौंदर्य-चेतना, जाहिर है, बहुत विकसित थी और उसी के सहारे वह कष्टकर अनुभवों को सह सका, क्योंकि वह उसे सौन्दर्य का आनन्द प्रदान कर उनकी क्षतिपूर्ति कर देती थी। लिखित शब्द उसे सौंदर्य के लोक में ले जा सकता है—यह रहस्य जैसे ही उस-पर खुला, वह वर्णमाला पर अधिकार करने के लिए पाठों की बोरियत बर्दाशत करने को तैयार हो गया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वीकार करते हैं कि वर्ण-परिचय की पुस्तक को पूरा करने के प्राथमिक प्रयास बहुत ही उबाने वाले थे। लेकिन जब यह बात समझ में आ गई कि पाठों को पढ़ने से कविता का जादुई संसार खुल सकता है, तो इस समझ का उनपर वही प्रभाव पड़ा जो घोड़े पर गाजर का पड़ता है। वे कहते हैं :

> "अचानक शब्दों को जोड़ने से बननेवाली एक तुकबंदी" पर पहुंचा जिसका अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है: 'पानी बरस रहा है, पत्ते कांप रहे हैं।' बस मैं तुरन्त ऐसी दुनिया में आ गया जहां मुझे मेरा पूर्ण अर्थ मिल गया। मेरे मन ने अभिव्यक्ति के सृजनात्मक राज्य को छू लिया

---

1. छेलेबेला
2. जल पड़े पाता नड़े

> था और मैं उस घड़ी क्लास के कमरे में बन्द, शब्दों के
> हिज्जों से परेशान, महज एक छात्र नहीं रह गया था।[1]

घर की पढ़ाई पूरी होने पर बालक रवीन्द्रनाथ को स्कूल में दाखिल करवाया गया। परिवार के दो और बच्चों का लालन-पालन भी, जो समान आयुवर्ग के थे, उसी के साथ हो रहा था। उनमें एक उसका बड़ा भाई सोमेन्द्रनाथ था और दूसरा सब से बड़ी बहन का लड़का सत्य था। दोनों ही रवीन्द्रनाथ से दो साल बड़े थे। घर पर उनकी पढ़ाई एक-साथ होती थी, एक ही कमरे में वे सोते थे और उनका यज्ञोपवीत संस्कार भी एक-साथ हुआ।

उन सब को पहले उत्तर कलकत्ता के एक स्कूल, ओरीएण्टल सेमिनार में दाखिल करवाया गया। रवीन्द्रनाथ का स्कूल का पहला अनुभव यह रहा कि अध्यापक अपने छात्रों पर एकछत्र राज्य करता है और उसे उन्हें मनचाही सजा देने का विशेषाधिकार है, और इसका उसपर गहरा असर पड़ा। उसका एक प्रिय मनोरंजन इसके बाद यह हो गया कि वह अपने घर के बरामदे के एक कोने में खुद तो अध्यापक बन जाता, और उसके कटहरे को छात्र मान उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता।[2]

पर शुरू-शुरू का यह आकर्षण शीघ्र ही समाप्त हो गया। कुछ समय बाद जब लड़कों को वहां से हटाकर नार्मल स्कूल में भेजा गया तो वहां का उसका अनुभव, लगता है, निरन्तर अरुचि का ही रहा। क्लास के कमरे की चारदीवारी में बन्द रहना उसे अच्छा नहीं लगता था। और अध्यापकों
कमरे की चारदीवारी में बन्द रहना उसे अच्छा नहीं लगता था। और अध्यापकों
और शिष्य के बीच स्नेह-सम्बन्ध पैदा होने की वहां कोई गुंजाइश नहीं थी। स्कूली जीवन की उस एकरसता को तोड़ने में उसे अपने सहपाठियों से मदद मिल सकती थी। पर उनकी रुचियां घटिया और आदतें अप्रिय होने के कारण वे उसे अच्छे नहीं लगते थे, इसलिए वे सहायक सिद्ध नहीं हुए। अतः खाली घंटों और खाने की छुट्टी में उसे अकेले रहना ही पसन्द था।

साल-भर स्कूल जाते रहने के बाद रवीन्द्रनाथ स्कूल की वार्षिक परीक्षा में बैठा। काफी हैरानी की बात यह रही कि बंगला में वह सर्वप्रथम आया। अपने स्कूली जीवन में शायद यही एक सम्मान था जो उसे कभी प्राप्त हुआ।

---

1. रिलिजन आफ मैन, द विजन
2. जीवन स्मृति, नार्मल स्कूल

कविता रचने का अपना पहला पाठ रवीन्द्रनाथ को इसी काल में मिला। इसे एक शुभ संयोग ही कहिए कि उसके एक निकट सम्बन्धी, ज्योतिप्रकाश ने उसे यह विद्या सिखाने का निश्चय कर लिया। ज्योतिप्रकाश रवीन्द्रनाथ के चाचा गिरीन्द्रनाथ का धेवता था और इसलिए उसका भानजा होता था। पर वह रवीन्द्रनाथ से कोई सात साल बड़ा था और युवावस्था में प्रवेश कर रहा था। ज्योतिप्रकाश ने रवीन्द्रनाथ को समझाया कि कविता में पंक्ति के अन्तिम शब्द की तुक पिछली पंक्ति के अन्तिम शब्द से मिलानी होती है। काव्य-रचना की ओर अपनी स्वाभाविक प्रवृति के कारण रवीन्द्रनाथ तुरन्त ही इस नई रुचि में डूब गया। उसने नीले कागजवाली एक कापी प्राप्त कर ली और उसे स्वरचित कविताओं से भरना शुरू कर दिया।

खुद बाल कवि के लिए तो निःसन्देह यह सुखद अनुभव था ही, पर जिस व्यक्ति को इस प्रयोग से सब से अधिक आनन्द मिला वह उसका बड़ा भाई सोमेन्द्रनाथ था। अपने इस छोटे भाई पर उसे इतना गर्व होने लगा कि वह परिवार के बड़ी उम्र के बन्धु-बांधवों को एकत्रित कर लेता और वाहवाही की आशा में उन्हें वे कविताएं सुनाने लगता। यह सोचकर बड़ा दुःख होता है कि सोमेन्द्रनाथ अपने जीवन के उत्तरार्ध में विक्षिप्त हो गया और इस तरह अपने प्रतिभावान छोटे भाई की अनेकानेक जयशाली उपलब्धियों का आनन्द नहीं ले सका।

कवि के रूप में रवीन्द्रनाथ की ख्याति शीघ्र ही उसके स्कूल में भी फैल गई और एक अध्यापक ने उसकी कविताओं में रुचि दिखलाई। पर, यह नवोदित कवि जिस व्यक्ति की सराहना को सब से अधिक महत्त्व देता था वे थे, अधेड़ उम्र के श्रीकृष्ण सिन्हा। वे रायपुर के जमींदार परिवार के वंशधर थे। आगे चलकर जब उस परिवार के एक सदस्य, सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा को ब्रिटिश सरकार ने 'बैरन' बना दिया तो उस परिवार का बहुत नाम हो गया। श्रीकृष्ण सिन्हा महर्षि के सन्त जैसे स्वभाव के कारण उनकी ओर आकर्षित थे और घर में प्रायः आते रहते थे। परिवार के सभी लोगों के प्रिय बन जाने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। वे इस नवोदित कवि की कविताओं को बहुत ही सहानुभूति के साथ सुनते थे। हमें उनका इसलिए भी आभार मानना चाहिए कि उन्हीं के कारण हमें रवीन्द्रनाथ का एक ऐसा फोटो प्राप्त है जो यह दिखाता है कि जब वे केवल चौदह वर्ष के थे तो कैसे लगते थे।

अब इन लड़कों को, अघोर बाबू नाम के एक अध्यापक की देखरेख में, अंग्रेजी सिखाने की विशेष व्यवस्था की गई। वे उन्हें शाम को पढ़ाते थे। यह बताने की जरूरत नहीं कि थोपे गए पाठ भी रवीन्द्रनाथ को फिर बहुत उबाने लगे। उसे अपनी दशा इतनी दयनीय लगती कि वह पक्षियों को अपने से कहीं भाग्यवान मानता, क्योंकि वे लैम्प जलाने की कला से अनभिज्ञ होने के कारण रात में शिक्षा पाने के दुर्भाग्य से भी मुक्त थे।

कुछ समय बाद लड़कों को नार्मल स्कूल से निकाल कर बंगाल अकादमी नाम के एंग्लो इंडियन स्कूल में दाखिल कर दिया गया। यहां रवीन्द्रनाथ का जीवन पहले की निस्बत कुछ चैन से बीता, क्योंकि यहां पाठों को याद करने पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता था और छात्र भी शरारती तो जरूर थे पर उनका व्यवहार बुरा नहीं था। फिर भी स्कूल का घुटा-घुटा वातावरण, जहां उसे अपना समय क्लास के कमरे की चारदीवारी में बिताना पड़ता था, उसे पसन्द नहीं था। इसीलिए वह स्कूल से भागने का कोई न कोई बहाना ढूंढ़ा करता था। इस मामले में उसे बड़े भाइयों द्वारा फारसी पढ़ाने के लिए नियुक्त अध्यापक में एक हमदर्द साथी मिल गया। उसे कामचलाउ अंग्रेजी आती थी और वह रवीन्द्रनाथ को छुट्टी देने के लिए स्कूल के अधिकारियों को बेखटके पत्र लिख देता था। रवीन्द्रनाथ के सौभाग्य से उसकी सिफारिश फौरन मंजूर भी हो जाती थी।

1873 में देवेन्द्रनाथ कुछ सप्ताह के लिए घर लौटे। इस मौके पर तीनों लड़कों का यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया गया। उसके बाद देवेन्द्रनाथ रवीन्द्रनाथ को अपने साथ हिमालय ले गए, ताकि वह कुछ महीने उनके साथ रह सके। हिमालय की इस यात्रा से बालक टैगोर न केवल अपने पिता के घनिष्ठ सम्पर्क में आ सका, जिसका उसके मन पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा, बल्कि उसके जीवन ने भी एक नया मोड़ लिया। पिता के सन्त-जैसे चरित्र और प्रभुत्वशाली व्यक्तित्व ने जहां उसके चरित्र को ढालने में मदद की, वहां पिता ने पढ़ने को जो पाठ दिए उनसे उसके दृष्टिकोण का विस्तार हुआ और उसमें नई रुचियों के विकास में मदद मिली। शायद यह मानना गलत नहीं होगा कि पिता को यह पता लग गया था कि इस लड़के में महानता के बीज हैं और वे जान-बूझकर उसके मन पर प्रभाव डालना चाहते थे। नहीं तो उन तीन लड़कों में से, जिनका परिवार में एक साथ लालन-पालन हो रहा था, उन्होंने रवीन्द्रनाथ को ही विशेष रूप से क्यों चुना ?

तय यह हुआ कि रवीन्द्रनाथ कोई तीन महीने अपने पिता के साथ बिताएगा। यह भी निश्चय हुआ कि पहाड़ पर जाते हुए रास्ते में वे कुछ दिन शान्तिनिकेतन में रहेंगे, जहां उसके पिता ने ध्यानादि के लिए पहले ही एक उद्यान-गृह बनवा रखा था। शान्तिनिकेतन में प्रवास का भी उसके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और, बहुत दिन बाद, उसके भावी जीवन के निर्माण में उसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। वस्तुतः यह उसके जीवन में पहला अवसर था जब वह खुले देहाती क्षेत्र में आजादी से जहां-तहां घूम सकता था। जिस लड़के का सारा जीवन शहर के बन्द वातावरण में ही बीता हो उसके लिए यह बिलकुल नया अनुभव था।

अतः बोलपुर के इस लघु प्रवास का इस लड़के के लिए एक रोमांचकारी अनुभव सिद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। यह एक ऊंचा-नीचा क्षेत्र है जहां पानी से गहरी कटी ऊसर जमीन दूर-दूर तक फैली है, और उसपर जहां-तहां ताड़ के पेड़ों के झुरमुट हैं। इस विशाल निर्जनता में उसके जहां चाहे आने-जाने पर पिता ने कोई पाबन्दी नहीं लगाई। इससे उसे बहुत-कुछ वैसा ही महसूस हुआ जैसा लिविंगस्टोन को अफ्रीका के बियाबान क्षेत्र का अन्वेषण करते हुए हुआ था। जमीन के कटावों में बहते बरसात के पानी ने जहां उसे मुग्ध कर दिया, वहां तरह-तरह के आकार के छोटे-मोटे पत्थर इकट्ठे करने और उन्हें अपने पिता को भेंट करने में भी उसे विशेष आनन्द आया। और जब उनका भाव प्रशंसात्मक लगा, तब तो उसे अपनी गतिविधियां और भी महत्त्वपूर्ण लगने लगीं। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर उस जगह के बड़े ही सुखद प्रभाव को एक निधि की तरह अपनी स्मृति में संजोए रहे, ताकि वृद्धावस्था में उसे याद कर सकें। और सचमुच जीवन के उत्तरकाल में लिखी अपनी एक कविता में उन्होंने उसे याद किया है। उसमें उस जगह के बारे में कहा गया है:

"बचपन में मैं यहां आया हूं।
यहां गुफाओं और गह्वरों में
और कलकल करते सोतों पर
मेरी कल्पना ने
रहस्यमयी कथाएं बुनी हैं।
यहां सूनी दुपहरियों में

छोटे-छोटे पत्थरों के साथ
अकेला मैं खेला हूं।"[1]

पहली नजर में ही रवीन्द्रनाथ को इस जगह से प्रेम हो गया। बाद में जब उन्होंने अपने लड़के के लिए ग्रामीण परिवेश में एक स्कूल खोलने का निश्चय किया तो शायद प्रेम के इस गहरे बन्धन ने ही उन्हें इस जगह की ओर खींचा, और इस बहाने यह शेष जीवन के लिए उनका स्थायी निवास ही बन गई।

इसके बाद पिता और पुत्र डलहौजी गए। बकरोटा के रमणीय प्राकृतिक परिवेश में उन्होंने एक बंगला ले लिया। यह मकान चीड़ के जंगल में था, जिसके पीछे बर्फ से ढकी हिमालय की पर्वतमाला थी और सामने तराई का विशाल क्षेत्र फैला था। यहां भी रवीन्द्रनाथ को कहीं भी आने-जाने की पूरी आजादी थी और यह भी उसके लिए एक रोमांचकारी अनुभव रहा।

परन्तु विवेकशील पिता का यह आशय नहीं था कि उनके पुत्र के दिन केवल प्राकृतिक सौन्दर्य के उपभोग में ही बीतें बल्कि उनका इरादा तो उसे गम्भीर कार्य देने का भी था। ऐसा प्रतीत होता है कि देवेन्द्रनाथ अपने पुत्र के लिए शिक्षा के एक गहन पाठ्यक्रम की योजना बना चुके थे। इस काम के लिए जो पुस्तकें वे लाए थे उनमें पीटर पार्ली की **टेल्स, द लाइफ आव बेंजामिन फ्रेंकलिन, प्रांक्टर की एस्ट्रानामी** और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा संकलित संस्कृत पाठमाला का द्वितीय भाग, ऋजु पाठ शामिल था। वे अपने बेटे को तीन बार पढ़ाते थे—सुबह बहुत सवेरे, नाश्ते के बाद, जिसके बाद सुबह की सैर होती थी, और दोपहर के भोजन के बाद। पढ़ाई का ढंग परम्परागत रीति का कतई नहीं था। आशय यह था कि छात्र खुद पाठों में भाग ले, जिससे कि चिन्तन की उसकी क्षमता को बढ़ावा मिल सके। इस तरह संस्कृत पढ़ाते समय वे उसे संस्कृत में वाक्य रचने के लिए प्रोत्साहित करते। इस के बाद में रवीन्द्रनाथ में संस्कृत साहित्य के लिए स्थायी रुचि विकसित हो गई।

इसी तरह खगोल-विज्ञान की शिक्षा नक्षत्रों के बारे में केवल जानकारी देने से समाप्त नहीं हो जाती थी, बल्कि उसके बाद व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी। जब सूर्य छिप जाता और रात पृथ्वी की हर चीज को अंधेरे से ढक देती, तो आकाश, इसके विपरीत, असंख्य तारों से आलोकित हो उठता, जो पहाड़ों के उस स्वच्छ धूल-रहित वातावरण में अपनी चमक से

1. पुनश्च, खोवाइ

चकाचौंध पैदा कर देते। पिता तब अपने शिष्य को बाहर ले आते और उसे मुख्य ग्रह और तारे दिखलाते, विभिन्न तारा/पुंजों की विचित्र स्थितियों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते।[1] खगोल-विज्ञान के इन पाठों से केवल उसके क्षितिज का ही विस्तार नहीं हुआ, बल्कि कौतुक की उसकी भावना के विकास में भी मदद मिली। यह एक कवि के लिए, जिसके भाग्य में विश्वव्यापी ख्याति बदी थी, बहुत बड़ी सम्पदा थी। विज्ञान में रवीन्द्रनाथ की रुचि जो इतनी बढ़ गयी थी उसका श्रेय इन पाठों को जाता है। इससे उनकी कविताओं में एक विशेषता आ गई। उनकी शानदार कल्पनाएं वैज्ञानिक तथ्यों के सदा अनुरूप रहीं। अपनी गम्भीर रचनाओं में वे प्रायः विज्ञान से लिये गये उपमानों का हवाला देते हैं।

हिमालय से लौटने के बाद रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व, स्पष्ट रूप से, अपनी दृढ़ता दिखाने लगा। स्कूली शिक्षा के प्रति अपनी अरुचि को अब वह निडरता से बहिष्कार करके व्यक्त कर सकता था। परिवार के प्रमुख घर पर थे नहीं, अतः भाइयों ने एक और प्रयोग करके देखा। उन्होंने उसे बंगला अकादमी से निकाल कर सेंट जेवीअर स्कूल में दाखिला किया। इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ा, यद्यपि मिशनरी शिक्षकों की साधुता और उनके भव्य व्यवहार से वह बहुत प्रभावित हुआ। बड़े भाइयों की डांट-फटकार का कोई फल नहीं निकला। आखिर खुद अपनी तरफ से उसने स्कूल जाना बिलकुल बन्द कर दिया। सब से बड़ी बहन सौदामिनी देवी ने अपना विरोध प्रकट करते हुए कहा कि अपने प्यारे रवि से उसने जो बड़ी-बड़ी उम्मीदें बांधी थीं वे सब इससे मिट्टी में मिल गई[2] पर यह विरोध भी व्यर्थ रहा।

लेकिन उलटी बात यह हुई कि, अपनी मर्जी का आप मालिक होने पर, वह गम्भीरता के साथ आत्म शिक्षण में लग गया। स्कूली जीवन से उसकी घृणा का अर्थ यह कदापि नहीं था कि वह शिक्षित होना नहीं चाहता था। शिक्षा की तो उसमें बड़ी प्यास थी। शिक्षा देने की स्कूलों में जो पद्धति प्रचलित थी उसे केवल उससे घृणा थी। खुली छूट होने पर वह किसी निर्धारित पाठ्यक्रम से नहीं चिपका, बल्कि अपने खुद के रुझान के अनुरूप पुस्तकें पढ़ने लगा। इस दिशा में वह जिस ढंग से बढ़ा उससे यह स्पष्ट

1. विश्वपरिचय
2. जीवन-स्मृति, प्रत्यावर्तन

हो जाएगा कि स्वत: शिक्षण की प्रक्रिया उसने गम्भीरतापूर्वक शुरू की थी।

जो पुस्तकें स्कूलों में पढ़नेवाले छात्रों को सुलभ नहीं होती थीं, उनकी ओर उसमें स्वाभाविक आकर्षण था। इसीलिए उन्हें हस्तगत करने के लिए वह संदिग्ध तरीके अपनाता। उदाहरण के लिए, **नीलदर्पण** के प्रसिद्ध रचनाकार दीनबंधु मित्र का एक प्रहसन ताले में बन्द करके रखा गया था, कि वह कहीं बच्चों के हाथ न लग जाए। पर बालक रवीन्द्रनाथ ने पुस्तकों की देखरेख करनेवाली महिला के पास से उस बक्से की चाबी चुराकर उसे प्राप्त कर लिया।

गम्भीर विषयों के लिए इस बालक में एक सहज आकर्षण था। तीसरे भाई के निजी पुस्तकालय में एक पत्रिका आती थी जिसका भारी-भरकम नाम था, **विविधार्थ संग्रह**। इसकी ओर रवीन्द्रनाथ का खिंचाव था। सब से बड़े भाई के निजी पुस्तकालय के एक और मासिक अबोध बन्धु को भी वह पढ़ने लगा। परिवार के पुस्तकालय में वैष्णव कवियों की प्राचीन बंगला कविताओं का एक संग्रह था। उस पर तो वह इतना मुग्ध हुआ कि उसी शैली में छद्म नाम से एक पुस्तक तैयार करने का उसने निश्चय कर लिया, जब कि वह अभी अपनी किशोरावस्था में ही था। इस विषय की हम उपयुक्त स्थल पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

जब वह सत्रहवें साल में था तो उसके दूसरे भाई सत्येन्द्रनाथ ने यह सुझाव रखा कि रवीन्द्रनाथ को वकालत पढ़ने के लिए ब्रिटेन जाना चाहिए। उन्होंने इस प्रस्ताव पर अपने पिता की सहमति भी प्राप्त कर ली। यह निश्चय हुआ कि लम्बी छुट्टियों में जब वे ब्रिटेन के लिए रवाना होंगे तो छोटे भाई को अपने साथ लेते जाएंगे। उनकी पत्नी और बच्चे उनसे पहले ही वहां चले गए थे और ब्राइटन में रह रहे थे। यह भी निश्चय हुआ कि इंग्लैंड के अपने प्रवास की तैयारी के लिए और अंग्रेजी तौर-तरीके सीखने में मदद मिले इस दृष्टि से, रवीन्द्रनाथ को सत्येन्द्रनाथ के यहां ही चले जाना चाहिए। वे उन दिनों जिला-न्यायाधीश के रूप में अहमदाबाद में तैनात थे।

इस तरह किशोर रवीन्द्रनाथ शाही बाग, अहमदाबाद चला गया, जहां जिला-न्यायाधीश का निवास था। वह संयोग से पहले एक मुसलमान सरदार का महल था, जो अपनी बेगमों के साथ कभी वहां रहा करता था। साबरमती के तट पर खड़ी यह लम्बी-चौड़ी राजसी इमारत इस किशोर के लिए बहुत

ही सुनी थी, क्योंकि दिन के लम्बे घंटों में, जब उसके बड़े भाई अपने दफ्तरी कामकाज में व्यस्त होते, उसका साथ देने को वहां कोई नहीं होता था। लेकिन, अतीत के साथ अपने सम्बन्ध के कारण, इस इमारत ने उसकी कल्पना को इतना उद्वेलित किया कि बाद में रवीन्द्रनाथ ने इसी से अपनी सुप्रसिद्ध कहानी **क्षुधित पाषाण** की विषय-वस्तु ली। इसका अंग्रेजी रूपान्तर हंग्री स्टोन्स नाम से मशहूर है। यह विशुद्ध काल्पनिक कृति है। जो शाही सरदार वहां कभी रहता था उसके दरबार और हरम के प्राचीन दृश्य इसमें कल्पना से फिर से सजीव हो जाते हैं। जहां रवीन्द्रनाथ के पास फुर्सत ही फुर्सत थी, जिससे उसे यह समय अंग्रेजी पर अधिकार करने में लगाने की प्रेरणा मिली, और यह एक खुशी की बात थी। शब्दकोश की सहायता से उसने अंग्रेजी पुस्तकें पढ़नी शुरू कर दीं।

छोटे भाई को अकेलापन कितना खल रहा है, यह बात सहृदय बड़े भाई से छिपी नहीं रही। इसलिए उन्होंने उसे बम्बई में एक पारसी परिवार के संरक्षण में रखने का फैसला किया। उनका खयाल था कि इससे दो मकसद पूरे हो जाएंगे—उसे साथ मिल जाएगा और साथ ही बातचीत द्वारा अंग्रेजी पर अधिकार करने में भी सहायता मिलेगी। यहां रवीन्द्रनाथ उस परिवार की बुद्धिमान और जिन्दादिल लड़की के सम्पर्क में आया जो कुछ समय इंगलैंड में शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी। ऐसा लगता है कि उनमें घनिष्ठता हो गई जिससे शाही बाग के एकाकी दिनों की सारी कसर निकल गयी। उनके सम्बन्धों में रोमांस का भी कुछ रंग आया, क्योंकि खयाल है, उसी की इच्छा पर, रवीन्द्रनाथ ने उसका एक नया नाम रखा और उस पर एक कविता भी रची। इसमें उसे बड़ा रस आया और बदले में उसने रवीन्द्रनाथ के सुन्दर रूप की प्रशंसा की। दुर्भाग्य से यह महिला काफी कम उम्र में ही इस दुनिया से चल बसी।

सितम्बर, 1878 में दोनों भाई ब्रिटेन के लिए रवाना हुए। इंग्लैंड पहुंचने के बाद रवीन्द्रनाथ कुछ सप्ताह ब्राइटन में अपने भाई के परिवार के साथ रहा और एक स्थानीय स्कूल में उसने दाखिला ले लिया। उसके बाद वह परिवार के मित्र, प्रसिद्ध बैरिस्टर और परोपकारी तारकनाथ पलित की सलाह पर बाकायदा पढ़ाई के लिए लन्दन आ गया।

पहले वह रीजेंट पार्क में एक बोर्डिंग हाउस में रहा, जहां वह अपने को बहुत ही अकेला महसूस करता था। बाद में वह डॉ. स्काट नाम के

एक सज्जन के परिवार में आ गया। जहां उसे बड़ा आराम मिला। रवीन्द्रनाथ ने यह बात साभार याद की है कि मिसेज स्काट और उनकी तीनों बेटियों का व्यवहार उसके साथ ऐसा था मानो वह परिवार का ही एक सदस्य हो। उसे लगा कि इससे सुखद वातावरण तो उसे अपने सगे सम्बन्धियों के साथ भी नहीं मिल सकता था।

लन्दन में रवीन्द्रनाथ ने यूनिवर्सिटी कालेज में दाखिला ले लिया। यहीं वह तारकनाथ पलित के पुत्र लोकेन पलित के सम्पर्क में आया। लोकेन से वह आयु में यद्यपि चार साल बड़ा था, फिर भी उनमें गहरी दोस्ती हो गई। दोनों की रुचियां और मिजाज एक-से होने के कारण वे अपने अवकाश के क्षण काव्य और साहित्य की चर्चा में बिताते थे। किशोर पलित ने बाद में इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास की और उसकी नियुक्ति बंगाल में हुई। छात्रावस्था में हुई उनकी वह दोस्ती जिन्दगी-भर कायम रही। उनमें साहित्य के सौन्दर्य-बोध पर पत्रों द्वारा एक संवाद भी चला, जिससे रवीन्द्रनाथ को साहित्य और काव्यशास्त्र पर महत्वपूर्ण विचार व्यक्त करने की प्रेरणा मिली। इन पत्रों से सौंदर्य-शास्त्र में उनका योगदान समृद्ध हुआ है।

दुर्भाग्य से रवीन्द्रनाथ लन्दन में शुरू की गयी अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर सका। पिता का आदेश आया कि वह अपने बड़े भाई के साथ, जिनकी छुट्टियां समाप्त होने वाली थीं, घर वापस आ जाए, और पढ़ाई अचानक खत्म कर दी गयी। इसलिए, फरवरी 1880 में वह कलकत्ता वापस आ गया।

परन्तु लन्दन के इस अल्प प्रवास से रवीन्द्रनाथ का पाश्चात्य संगीत से खासा परिचय हो गया। उन्होंने यह बात गौर की कि विषय-वस्तु और शैली दोनों में वह भारतीय संगीत से भिन्न है। उनके अनुसार, यूरोपीय संगीत अपने विषय एक व्यापक क्षेत्र में से लेता है और वह मनुष्य के सामान्य दैनिक जीवन से गहरा जुड़ा लगता है। इसके विपरीत, भारतीय संगीत अपना विषय ऐसे सीमित क्षेत्र में से चुनता है जो सामान्य जीवन की तुच्छताओं से दूर है। पाश्चात्य संगीत में उन्हें विशेष रूप से सराहनीय उसका रोमांटिक स्वरूप लगा जो, उनके अनुसार, विविधिता, भावना के आवेग, गतिशीलता और विराटता का द्योतक है। वे कहते हैं, ये गुण भारतीय संगीत में न हों, यह बात नहीं है; पर वे उसमें इतनी प्रचुरता में नहीं हैं। इंग्लैंड

के अपने प्रवास का उपयोग उन्होंने पाश्चात्य संगीत की मूल शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी किया।[1] इससे बाद में उन्हें अपने खुद के गीतों की स्वर-रचना करने में बड़ी मदद मिली। आत्मसात् करने की अपनी क्षमता के कारण, वे पाश्चात्य धुनों को भारतीय संगीत में घोल सके और अपनी संगीत-रचनाओं को उनकी एक अलग पहचान दे सके।

5. साहित्यिक प्रतिभा का विकास

एक बहुत बड़े परिवार में सब से छोटी उम्र का होना दुर्भाग्य ही हो, यह जरूरी नहीं है। परिस्थितियां अनुकूल हों तो यह सौभाग्य भी बन सकता है। रवीन्द्रनाथ का जीवन इसका उदाहरण है। उन्हें एक असाधारण साहित्यिक विभूति बनाने में जहां उनकी जन्मजात प्रतिभा प्रमुख कारण थी, वहां पारिवारिक वातावरण भी उसके विकास में कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। रवीन्द्रनाथ को खुद इसका पूरा अहसास था और अपने संस्मरणों में उन्होंने इसकी पुष्टि की है। "बचपन में मुझे यह बड़ा लाभ रहा कि घर में दिन-रात साहित्यिक गतिविधियों का वातावरण छाया रहता था। साहित्य और कला-साधना में उन लोगों के उत्साह की कोई सीमा ही नहीं थी, मानो सभी सम्भव उपायों द्वारा वे बंगाल के आधुनिक युग को लाने के लिए प्रयत्नशील हों। वस्त्र और वेशभूषा, कविताएं और संगीत, चित्रकला, नाटकों का मंचन, धार्मिक विवेचन, देशप्रेम के कार्य—इस तरह के सभी विषयों में उनके मन राष्ट्रीयता के व्यापक आदर्श से शासित थे।"[1]

देशप्रेम की गहरी भावना से वह भी परिवार के वातावरण में उनमें भरी थी—रवीन्द्रनाथ को साहित्यिक प्रतिभा के विकास का बढ़ावा मिला। देशप्रेम का वातावरण परिवार में कई पीढ़ियों से व्याप्त था। रवीन्द्रनाथ के दादा द्वारकानाथ ने इसका शुभारम्भ किया था। यूरोपीय समाज के लोगों से यद्यपि उनका गहरा मेलजोल था, पर भारतीय रहन-सहन उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उन्हें उससे इतना प्रेम था कि इंग्लैंड के लम्बे प्रवास में भी उनकी वेशभूषा भारतीय रही और हुक्का पीने में उन्हें बड़ा मजा आता था। यह भावना उनके पुत्रों को विरासत में मिली। उनका सबसे छोटा बेटा नगेन्द्रनाथ इंग्लैंड में पिता की मृत्यु हो जाने के बाद जब स्वदेश लौटा और विशुद्ध भारतीय वेशभूषा में जहाज से उतरा तो कलकत्ता के सामाजिक क्षेत्र में खलबली मच गयी थी। देवेन्द्रनाथ का सदा यह आग्रह रहता था कि परिवार के लोगों के बीच पत्राचार केवल बंगला में ही होना चाहिए।

यह परम्परा अगली पीढ़ी में केवल चालू ही नहीं रही बल्कि और बढ़ी।

1. जीवन-स्मृति और अभाव

हो गई। सत्येन्द्रनाथ को बंगला में देशभक्ति के गीत रचने में आनन्द आता था। अपने बड़े चचेरे भाई गणेन्द्रनाथ और नवगोपाल मित्र के साथ मिलकर उन्होंने कलकत्ता में 'हिन्दू मेला' आयोजित किया था, ताकि देशवासियों में देशप्रेम की भावनाओं का विकास हो और स्वदेशी चीजों की बिक्री को बढ़ावा मिले। हेमेन्द्रनाथ इस पर जोर देते थे कि परिवार के सदस्यों को बंगला पढ़नी चाहिए और उसमें उन्हें पारंगत होना चाहिए। 'हिन्दू मेले' ने रवीन्द्रनाथ को जन्मभूमि के प्रति अपनी भावनाएं कविताओं में व्यक्त करने का अवसर दिया। ऐसा मालूम होता है कि दो बार उन्होंने 'हिन्दू मेले' के कार्यक्रमों में भाग लिया था और वहां भारत-सम्बन्धी अपनी कविताएं पढ़ी थीं। पहली बार, 1875 में तो वे केवल चौदह वर्ष के थे। यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण मानी गयी कि अगले दिन प्रमुख दैनिक पत्र में इसकी खबर छपी।[1] उस कविता में यह कल्पना की गई है कि महर्षि व्यास हिमालय में बैठे भारत के प्राचीन गौरव को याद करते हैं और आज की अधम दशा से उसकी तुलना करते हुए प्रश्न करते हैं:

"भारत के प्राचीन गौरव की राख
क्या आग बन फिर धधकेगी
और विश्व को आलोकित करेगी?"

उनके संवेदनशील मन को इस बात का पूरी तरह अहसास था कि बंगला की भूमिका इस समय नगण्य है, और देशप्रेम की आग उनमें यह दीन भावना जगाती थी कि किसी को इस कलंक को मिटाने का बीड़ा उठाना चाहिए। एक निबन्ध में वे कहते हैं: "लम्बे सालों तक खामोश रहने के बाद आज बंगाल का हृदय भावाकुल है। उसे अपनी भावनाएं अपनी भाषा में खुलकर प्रकट करनी चाहिए। विश्व सहगान बंगला के उसमें भाग लेने से और मधुर हो जाएगा।"[2]

अपने देश के प्राचीन अतीत पर उन्हें गर्व था। भारत को उसकी प्रतिष्ठा फिर से मिले, यह उनकी उत्कट कामना थी। उनकी काव्य रचना **नैवेद्य** में इस कामना को एक सानेट में अभिव्यक्ति मिली है।

परिवार की ओर से कई साहित्यिक पत्रिकाएं निकाली जा रही थीं जो उनके लिए सुलभ थीं। इससे उन्हें लिखने के लिए सीधा प्रोत्साहन मिला।

1. इंडियन डेली न्यूज, 15 फरवरी 1875
2. विचित्र प्रबन्ध

दिसम्बर, 1874 के आखिरी दिनों में, जब वे केवल तेरह साल के थे, **तत्वबोधिनी पत्रिका** ने उनकी कविता **अभिलाष** छापी जो उनकी सबसे शुरू की कविताओं में से है।[1] बाद में, किशोरावस्था में ही, परिवार की दूसरी पत्रिका **साधना** में उनकी रचनाएं नियमित रूप से छपने लगीं।

सब से अधिक प्रोत्साहन उन्हें ज्योतिरिन्द्रनाथ की सुयोग्य पत्नी कादम्बरी देवी से मिला। वह इस परिवार में जब वधू बन कर आई तब रवीन्द्रनाथ केवल सात वर्ष के थे। अपने इस प्रतिभावान देवर से उसे लगाव हो गया और उसने अपने स्नेह से उसे सराबोर कर दिया। इस स्मृति को वे वृद्धावस्था तक अपने मन में संजोये रहे और उसे इन शब्दों में याद करते हैं :

"मेरे जीवन में जब हमारे घर में
पहली वधू का आगमन हुआ,
मेरा मन तब लंगर डाले खड़ी
नौका जैसा था,
पर ज्वार उसे झकझोरने के लिए
गरजता हुआ आया।
भाग्य मेरे लिए ऐसा उपहार लाया
जिसमें खुशी उमड़ी पड़ती थी।"[1]

छुटपन में ही जब उनकी मां मर गई तो उनकी सुख-सुविधा का ख्याल रखने और आवश्यक स्नेह की वर्षा कर उनका दुःख हलका करने का दायित्व इस स्नेहमयी भाभी ने ले लिया। उसके बाद तो उसने उन्हें सदा अपने पास ही रखा। यहां तक कि जब वह अपने पति के साथ ऐसी जगहों पर गयी जो पुश्तैनी मकान से दूर थीं तो उन्हें अपने साथ ले गई। बस ब्रिटेन के अपने अल्प प्रवास में ही रवीन्द्रनाथ उनसे अलग रहे।

इस स्मरणीय महिला को साहित्य से न केवल प्रेम था बल्कि वह उसमें, विशेष कर काव्य में, गहरी रुचि रखती थी। परिवार के 'बोड़ोदा' द्विजेन्द्रनाथ की दोस्ती उस समय के सब से प्रतिभाशाली कवि बिहारीलाल चक्रवर्ती से थी जो उनके घर बराबर आते रहते थे। उनके काव्य की कादम्बरी देवी कितनी अधिक प्रशंसक थी कि वह उन्हें अपने हाथ का बनाया भोजन परोस कर उनका आदर-सत्कार किया करती थीं। उसने उन्हें एक ऊनी आसन भी भेंट

---

1. **आकाश प्रदीप, कांचा आम**

किया था, जिस पर उसने खुद कढ़ाई करके उनकी प्रसिद्ध पुस्तक **सारदा मंगल** का एक पद उतारा था।

वह काव्य में बहुत रस लेती थीं। अतः जब उसके छोटे देवर में काव्य-प्रतिभा दिखायी दी तो उसने, स्वभावतः, उसमें रुचि ली और उसे उसके प्रयासों में प्रोत्साहन दिया। लेकिन उसमें दम्भ की भावना पैदा न हो, इसका वह खास तौर से खयाल रखती थीं। वह चाहती थी कि वह अपनी क्षमताओं को अधिक से अधिक विकसित करे इसीलिए उसे कभी भी यह मालूम नहीं होने देती थीं कि वह खूब अच्छी तरह प्रगति कर रहा है। यहां तक कि वह उसे प्रायः यह ताना दे कर क्लेश देती रहती थीं कि उसे दम्भ की भावना बिलकुल निर्मूल कर देनी चाहिए।[1]

दुर्भाग्य से इस मनोहारी महिला ने किसी अज्ञात कारणवश 1884 में आत्महत्या कर ली। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने संस्मरणों में कहा है कि इस मृत्यु का दुख उन्हें जितना तीखा लगा वैसा पहले कभी नहीं लगा था। आभार की गहरी भावना से अभिभूत हो उन्होंने अपनी दो पुस्तकें, जो इस दर्दनाक घटना के कुछ दिन बाद ही प्रकाशित हुई, उसी की स्मृति को समर्पित कीं।

इनमें पहली, **शैशव संगीत** उनकी किशोरावस्था में लिखी गई कविताओं का संग्रह है। इनसे अधिक परिपक्व रचनाएं उनकी पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं। इनके लिखने की प्रेरणा उन्हें भाभी से मिली थी। अतः जाहिर है, उसकी मौत ही इस संग्रह के विलम्ब से प्रकाशन का कारण बनी। ये कविताएं साहित्यिक दृष्टि से तो उच्च कोटि की नहीं मानी जा सकतीं, पर ये उनकी आरम्भिक रचनाओं के नमूने प्रस्तुत करती हैं और इस लिए ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। पुस्तक के समर्पण में कहा गया है :

"ये कविताएं तुम्हें समर्पित हैं। बहुत पहले तुम्हारी उपस्थिति में मैं इन्हें लिखा करता था और तुम्हें सुनाया करता था। तुम्हारे स्नेह की स्मृति को ये संजोये हुए हैं। इसीलिए ऐसा खयाल बन गया है कि तुम चाहे कहीं भी हो तुम्हारी नजर इन पर जरूर पड़ेगी।"

दूसरी पुस्तक **भानुसिंह ठाकुरेर पदावली** है। इसका अपना किस्सा कई तरह से दिलचस्प है। भाभी के प्रोत्साहन पर, रविन्द्रनाथ ने वैष्णव कवियों की पदावलियों के ढंग पर कितने ही पद रचे। वे 1877 और 1881 के बीच

1. जीवन-स्मृति, साहित्येर संगी

पारिवारिक पत्रिका भारती के विभिन्न अंकों में छपे। मूल पदों से वे इतने मिलते जुलते थे कि शोधकर्ताओं में खलबली मच गई और उनमें से एक ने तो एक मध्यकालीन कवि को उनका रचनाकार सिद्ध करते हुए एक शोध-प्रबन्ध भी लिख डाला। भाभी के आग्रह के बावजूद, रवीन्द्रनाथ पहले उनका संग्रह प्रकाशित करने को तैयार नहीं थे, क्योंकि उन्हें उनमें अपनी कोई साहित्यिक विशेषता दिखाई नहीं देती थी। इन कविताओं के प्रकाशन में भी उसकी स्मृति ही कारण रही। इस पुस्तक का मार्मिक समर्पण इस प्रकार है:

"भानुसिंह के छद्मनाम से लिखी इन कविताओं का संग्रह प्रकाशित करने के लिए तुमने अनुरोध किया था। तुम्हारा अनुरोध तब मैंने नहीं माना और आज जब मैंने इसे प्रकाशित कर दिया है, तुम इसे देखने को यहां नहीं हो।"

अब वह समय आ गया है कि हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य के, प्रारम्भिक अवस्था से–जब वह अपना स्वरूप ग्रहण कर रहा था–परिपक्वास्था तक, विकास पर एक दृष्टि डालें। विकास के तीन विशिष्ट चरण वहां ऐसे हैं जो ध्यान देने योग्य लगते हैं। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि शैशव से ही रवीन्द्रनाथ में प्रकृति के लिए गहरा प्रेम पैदा हो गया था। आरम्भ की निर्माणावस्था में उनकी कविताओं को, स्वभावतः उसी से प्रेरणा मिली रवीन्द्रनाथ इसे अपने काव्य की कापी अवस्था (काव्य की प्रेरणा) कहते हैं,[1] जो इसके लिए बहुत ही सटीक नाम है। भाव यह है कि इस अवस्था में उनके प्रयास अधिकतर प्रतिष्ठित कवियों की नकल की ओर ही उन्मुख थे। इसका एक उदाहरण तो **भानुसिंह ठाकुरोर पदावली** है। दूसरा उदाहरण **शैशव संगीत** शीर्षक से प्रकाशित कविता-संग्रह है। इनमें वे परिवार के मित्र कवि बिहारी लाल चक्रवर्ती से प्रभावित थे, ऐसा संकेत मिलता है। यह प्रभाव उनकी तुकों और छंदों के चित्रण दोनों में झलकता है, यद्यपि यह मानना पड़ता है कि ये रचनाएं भावी महानता का आश्वासन देती हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं कहते हैं कि अपने काव्य की कापी अवस्था की दहलीज होने अपने काव्य-संग्रह सांध्य संगीत में पार की। पहली बार इस संग्रह की कविताओं पर ही उनकी अपनी शैली की छाप मिलती है। यह निश्चय ही परिक्वता की ओर बढ़ाया गया कदम था, और इस बोध में उन्हें बड़ी खुशी हुई थी।[2]

1. **सांध्य संगीत की प्रस्तावना**

इस संग्रह के महत्व पर बहुतों की नजर नहीं पड़ी, पर उस काल के सबसे बड़े साहित्यकार बंकिम चन्द्र चटर्जी की पारखी दृष्टि से वह छिपा नहीं रहा। उन्हें इसमें एक और महान साहित्यिक प्रतिभा के आगमन का शुभ समाचार मिला, और उनकी बात गलत नहीं निकली। उनकी प्रशंसा जिस भंगिमा में सामने आयी उसका संक्षिप्त उल्लेख यहां उचित होगा। उस समय के एक और महान साहित्यकार रमेशचन्द्र दत्त की कन्या के विवाह का समारोह था, जिसमें बंकिम चन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ दोनों आमन्त्रित थे। संयोग से दोनों ही वहां एक-साथ पहुंचे, बंकिम चन्द्र उनके बिलकुल आगे थे। रमेशचन्द्र ने उस महान साहित्यकार का स्वागत फूलमाला पहना कर किया। रवीन्द्रनाथ खड़े देख रहे थे। बंकिम चन्द्र ने माला अपने गले से उतार कर रवीन्द्रनाथ के गले में डाल दी और साथ ही यह अर्थपूर्ण मन्तव्य वयक्त किया:

"यह माला इन्हें (रवीन्द्रनाथ को) मिलनी चाहिए । रमेश, तुमने इनका **सांध्य संगीत** पढ़ा है?''[1]

दुर्भाग्य से इस संग्रह की कविताएं उनकी कविताओं के विशिष्ट स्वरूप को प्रतिबिम्बित नहीं करती थीं, क्योंकि वे तो आम तौर पर मंगल और आशावाद की भावना से ओतप्रोत होती हैं। इसके विपरीत, यह संग्रह शोक और विषाद के दृष्टिकोण से व्याप्त था। हताश और एकाकीपन का स्वर ही इसमें प्रधान था। शायद इसीलिए इसका नाम **सांध्य संगीत** रखा गया।

रवीन्द्रनाथ को खुद इस बात का अहसास था और वे इसका कारण भी पहचान सके थे। इस अवस्था में उन्होंने कविताएं लिखने की तकनीकी पर तो अधिकार कर लिया था, पर किसी कारण प्रकृति से उनका सम्पर्क टूट गया था। उनका मन अंतर्मुखी हो गया था, जिससे वे अपने को एकाकी और परित्यक्त अनुभव करते थे।

प्रकृति से उनके सम्बन्ध की पुनर्स्थापना बहुत ही नाटकीय परिस्थितियों में हुई। तरुण रवीन्द्रनाथ तब अपने भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ के साथ सदर स्ट्रीट पर उनके किराए के मकान में रह रहे थे। इस मकान पर से कलकत्ता की फ्री स्कूल स्ट्रीट पर लगे ऊंचे पेड़ों की कतार नजर आती थी। एक दिन प्रातः जब वे बाहर छज्जे पर आए तो पेड़ों की झिलमिली के पीछे उन्हें कुहासे के

1. जीवन-स्मृति, प्रभात संगीत
2. सांध्य संगीत की प्रस्तावना

वातावरण को तितर-बितर करते सूर्योदय की ज्योतिर्मय छटा दिखाई दी। प्राकृतिक सौंदर्य के इस आघात से अलगाव का इन्द्रजाल टूट गया। उन्हें उल्लास की वैसी ही रोमांचकारी अनुभूति हुई जैसी कि किसी को अन्धेरी गुफा की कैद से मुक्त होने पर होती है। इससे उन्हें अपनी प्रसिद्ध कविता **निर्झरेर स्वप्न-भंग** के लिए प्रेरणा मिली, जो उनके अगले काव्य संग्रह **प्रभात संगीत** में प्रकाशित हुई।

इस अनुभव का मूल्यांकन स्वयं उन्होंने इस प्रकार किया है:

"अन्ततः एक दिन, पता नहीं कैसे, बन्द कपाट टूट गया और मैंने जो खो दिया था वह फिर मिल गया। वह केवल वापस ही नहीं मिला, बल्कि वियोग की बाधा द्वारा मुझे उसका पूर्ण आशय भी मिल गया। इसीलिए **प्रभात संगीत** में जब मुझे बचपन का अपना जगत वापस मिला तो वह पहले से बहुत अधिक था। इस तरह प्रकृति की सहज सुलभता के बाद उससे वियोग और फिर पुनर्मिलन से मेरे जीवन के पहले अध्याय का एक उपाख्यान समाप्त हो गया।"[1]

प्रभात संगीत इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कवि-जीवन की निर्माजावस्था के दूसरे चरण की समाप्ति का द्योतक है। इस नए संग्रह की कविताओं में उल्लास का स्वर है। इसीमें पहली बार हमें ऐसी कविताएं मिलती हैं जिनपर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभा की छाप है; यद्यपि वे अभी परिपक्वास्था तक नहीं पहुंची थीं। उनका अपना अन्दाज यह है कि यह पुस्तक पाठक को उनकी पहली काव्य-साधन से परिचित करा देती है।[2]

उसके बाद रवीन्द्रनाथ की कविता परिपक्वता की ओर तेजी से बढ़ी। 1886 में प्रकाशित कड़ी ओ कमल पर परिपक्वता की मोहर साफ दिखाई देती है। उनके काव्य की प्रमुख विशेषताएं, जैसे कि आशा का तीव्र स्वर और प्रकृति के विभिन्न अंगों और निर्जीव पदार्थों तक में मानव गुण आरोपित करने की उनकी शैली, इसमें साफ झलकती है। उनकी दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं, बल्कि जीवन से स्पन्दित है। ऋतुएं नृत्य करती सुन्दरियां हैं, ओस कणों में प्रतिबिम्बित सूर्य-किरण सूर्य का प्रेम-सन्देश है। रात के आकाश को आलोकित करते तारे उन पशुओं के सिर हैं जिन्हें कोई अदृश्य चरवाहा इधर-उधर चरा रहा है। अमूर्त विचार तक प्राणियों के रूप में

---

1. प्रभात संगीत, की प्रस्तावना
2. जीवन-स्मृति, वाल्मीकि प्रतिभा

मूर्त आकार ले लेते हैं। ये नई विशेषताएं पहली बार **कांड़ो ओ कमल** में ही दिखाई देती हैं।

रवीन्द्रनाथ की साहित्य-साधना आरम्भ से ही बहुमुखी थी। कविता के अलावा, अन्य क्षेत्रों में भी उन्होंने तेजी से प्रगति की। शताब्दी के मोड़ पर हम उन्हें एक ऐसे प्रतिष्ठित लेखक के रूप में पाते हैं जो अनेक क्षेत्रों में अपनी महत्ता स्थापित कर चुका है।

उनका पहला-नाटक **रुद्र चण्ड** 1881 में प्रकाशित हुआ, जब वे केवल बीस वर्ष के थे। उसी साल उन्होंने **बाल्मीकि प्रतिभा** लिखा जिसमें डाकू रत्नाकर के सरस्वती की कृपा से महान कवि बन जाने की कथा को नाट्य रूप दिया गया था।

यह नाटक जोरासांको के उनके पुश्तैनी मकान में खेला गया और परिवार के लोगों ने उसमें अभिनय किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं बाल्मीकि की भूमिका अदा की। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय और प्रख्यात न्यायविद् गुरुदास बनर्जी सहित कलकत्ता के सभी गण-मान्य व्यक्तियों को नाटक देखने के लिए आमन्त्रित किया गया। श्री बनर्जी इस नाटक से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने इसकी प्रशंसा एक पद द्वारा की, जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नवीन बाल्मीकि कहा गया था।

बाल्मीकि प्रतिभा में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नई योजना का सफल प्रयोग किया। यह नाटक आपेरा के ढंग पर गीतों में लिखा गया है, पर यह आपेरा से थोड़ा भिन्न है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं बताते हैं कि जहां आपेरा में संगीत पर नाटक से ज्यादा ध्यान दिया जाता है, वहां इसका उद्देश्य नाटक का विकास है और गीत अभिनेता के संवाद को सजाने की गौण भूमिका प्रदा करते हैं। आपेरा से पृथक करने के लिए वे इसे **गीतिनाट्य** कहते हैं। यह नाटक एक और नई चीज के कारण भी विशिष्ट हो गया। इसमें गीतों के लिए उन्होंने नई धुनों का प्रयोग किया था। उनका ढंग उदार था। उन्होंने न केवल भारतीय शास्त्रीय धुनें अपनाई बल्कि अपने बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ द्वारा रची गई धुनों का भी खुलकर प्रयोग किया। पाश्चात्य संगीत से अपने परिचय का भी उन्होंने लाभ उठाया और उसकी कुछ धुनें अपनी आवश्यकतानुसार ढाल लीं। म्यूर की रची आइरिश रागनियों से उन्हें विशेष मोह हो गया था। उसके एक गीत

---

1. **जीवन-स्मृति**, बाल्मीकि **प्रतिभा**

की धुन इस नाटक के एक गीत को देने में उन्होंने तनिक भी संकोच नहीं किया।[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रस्तुत अगला नाटक **विसर्जन** मुक्त छन्द में है। इसका विषय स्वप्न में रहने वाला एक अनुभव है। यह बंगला साहित्य के कुछ सब से सुन्दर नाटकों में से है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पहला उपन्यास **बउ ठाकुरानीर हाट**, जो 1883 में प्रकाशित हुआ, स्पष्टतः एक अपरिपक्व कृति है। दूसरे उपन्यास **राजर्षि** में जिसमें **विसर्जन** नाटक का ही विषय है, भावी महानता का आश्वासन तो मिलता है पर इससे अधिक कुछ नहीं है। यह 1887 में प्रकाशित हुआ था। परन्तु 1903 में प्रकाशित **चोखेर बाली** आश्चर्यजनक रूप से काफी प्रगति की सूचना देता है। यह एक सुन्दर उपन्यास है, जिससे इस क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की परिपक्वता अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

राजर्षि से चोखेर बाली तक के लम्बे अन्तराल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहानियां लिखने के प्रयोग किये। पिछले शताब्दी के अन्तिम दशक में उनका मुख्य काम कहानियां लिखना ही रहा। उन्होंने दर्जनों कहानियां लिखीं जो गल्पगुच्छ में संकलित हैं। उनसे वे एक महान कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

इस तरह शताब्दी के मोड़ पर हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर को कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी में एक-जैसा सिद्धहस्त पाते हैं। यह कहना सचाई से दूर नहीं होगा कि यदि उन्होंने लिखना उसी समय बन्द कर दिया होता, तो भी उनका स्थान बंगला साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक बहुमुखी प्रतिभा का होता। पर तब विश्व बहुत बड़े वैभव से वंचित रह जाता।

इस तरह अनुपम प्रतिष्ठा रवीन्द्रनाथ ठाकुर को बिना किसी विरोध के प्राप्त हो गई हो, यह बात नहीं है। रूढ़िवादी विचारों से बंधे समकालीन लेखकों ने आलोचना का ऐसा आक्रमण शुरू किया जो प्रायः क्रूर और बहुत ही निर्मम रहा। इस आन्दोलन में जिन लेखकों ने प्रमुख भाग लिया वे थे, कवि कालिप्रसन्न काव्य-विशारद और कवि व नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय। द्विजेन्द्रलाल राय का तो उनके कृतित्व के बल पर बंगला साहित्य में एक विशिष्ट स्थान माना जा सकता है।

---

1. जीवन-स्मृति, बाल्मीकि प्रतिभा

कालिप्रसन्न ने **मिट्टे करो** नाम से पद्य में एक पुस्तक प्रस्तुत की, जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तक **कोड़ो ओ कमल** की कविताओं की शैली की नकल कर रवीन्द्र नाथ ठाकुर का मजाक उड़ाने की कोशिश की गई थी। द्विजेन्द्रलाल का आक्रमण कभी तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं की पैरोडी का रूप लेता था और कभी बाकायदा निबन्धों का। रवीन्द्रनाथ की कलम की ताकत को वे न मानते हों, यह बात नहीं थी पर उनका तर्क था कि इसी कारण रवीन्द्रनाथ पर आक्रमण-बिना किसी दुविधा के होना चाहिए, क्योंकि सशक्त कलम नगण्य लेखक की अपेक्षा ज्यादा अनिष्ट कर सकती है।[1] उन्हें यह लग रहा था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर नैतिक सिद्धान्तों के प्रति बिलकुल उदासीन हैं और इस लिए उनकी रचनाएं समाज को भ्रष्ट कर सकती हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब अपनी **गीतांजलि** प्रकाशित की और अपनी शक्तियों के शिखर को छू लिया, तो वह आक्रमण चरम सीमा पर पहुंच गया। वह **आनन्द विदाय** नाम के एक नाटक के रूप में आया। द्विजेन्द्रलाल ने उसके नायक को रवीन्द्रनाथ ठाकुर, के जैसा कि वे उन्हें मानते थे—सांचे पर ढाला, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य रवीन्द्रनाथ का ज्यादा-से-ज्यादा मजाक उड़ाना था। काश कि राय दो साल और जिए होते और अपने आक्रमण के लक्ष्य को साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करते देख पाते। दुर्भाग्य से वे उसके ठीक पहले ही चल बसे।

महान लेखकों को आमतौर पर कटु आलोचना का सामना करना पड़ता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह सब आलोचना शान्त चित और अडिग साहस के साथ सहन की। उनके संवेदनशील मन को इसका डंक निःसन्देह बहुत चुभा होगा, पर उन्होंने कोई द्वेषपूर्ण प्रतिक्रिया नहीं दिखाई। उन्होंने अपने आलोचकों को न तो यह कहकर तुच्छ बताया कि उनमें उनकी रचनाओं के गुण ग्रहण की क्षमता ही नहीं है, और न उपेक्षा का कवच धारण कर अपने बचाव की कोशिश की। उन पर उन्होंने जवाबी हमला भी नहीं किया। उन्होंने न केवल शान्तचित से उसका सामना किया, बल्कि बदले में उनके लिए शुभ कामना पर अपनी सदाशयता का भी परिचय दिया। इस बात का प्रमाण मिलता है कि उन्होंने केवल एक बार ही आलोचना के प्रति अपनी प्रतिक्रिया अपने लेखन में प्रकट की थी।[2]

---

1. देखें उनका निबन्ध, काव्य नीति
2. मानसी, निन्दुकेर प्रति

एक कविता में उन्होंने यह तर्क रखा कि यदि मेरी कविताओं में कोई गुण नहीं है तो वे अंततः रद्द कर दी जाएंगी और भुला दी जाएंगी। इसलिए इस तरह के तीखे हमलों में कोई तुक नहीं है। इस कविता का अन्त शुभ कामना के सन्देश से होता है :

"आपका यश फैले,
आपकी लेखनी उत्कर्ष प्राप्त करे,
आपकी प्रतिभा का तेज
सारे संसार की प्रशंसा प्राप्त करे!"

प्रश्न यह है कि साहित्य के इतिहास में इस तरह के दृश्य की बार-बार पुनरावृत्ति क्यों होती है? इसका सब से अच्छा उत्तर शायद हमें वर्ड्सवर्थ से मिलता है, जिन्हें स्वयं जीवन के आरम्भ में कटु आलोचना का सामना करना पड़ा था। इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि साहित्य के क्षेत्र में यह दृश्य स्वाभाविक है। सशक्त कवि हमेशा ही अपने समय की प्रचलित शैली से भिन्न स्वर छेड़ता है। पाठक, उससे अपरिचित होने के कारण, उसकी कृति के गुण को पहचान नहीं पाता। अपरिचय से ही पूर्वाग्रह बनता है, और पाठक विरोधी आलोचक में परिवर्तित हो जाता है। लेडी बोमांट को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं : "जो बात, मेरे ख्याल से, कोलरिज ने आपसे कही थी उसे कदापि मत भूलना कि हर महान और मौलिक लेखक को, अपनी महानता और मौलिकता के अनुपात में ही, स्वयं वह अभिरुचि पैदा करनी होती है जिससे कि उसका रसास्वादन होना है।" उनके 'लिरिकल बैलेड्स' के दूसरे संस्करण की प्रस्तावना के परिशिष्ट के रूप में जो निबन्ध है, यह मत उसमें भी व्यक्त किया गया है। उपर्युक्त विचार यह प्रकट करता लगता है कि कोलरिज का भी यही मत था।

उनसे पहले ड्राइडन और पोप ने कृत्रिमता और टीमटाम की जो शैली स्थापित की थी उसका आदी होने के कारण, उस समय का पाठक वर्ड्सवर्थ का सहानुभूति के साथ स्वागत करने को तैयार नहीं था। अतः जैसा कि स्वाभाविक था, उन्हें आलोचना का सामना करना पड़ा। बाद में जा कर ही कहीं, जब पाठक उनकी शैली के आदी हो गए, उनके प्रकृतिवाद और भाषा की सादगी की एक सुखद परिवर्तन के रूप में सराहना की गई, तब यह स्वीकार किया गया कि उन्होंने अंग्रेजी कविता को उस पुरानी परम्परा से मुक्त किया

था जिसकी विशेषता, सही तौर पर, वाग्विलासिता का व्यापक अत्याचार मानी गई है।

यह सिद्धान्त रवीन्द्रनाथ के विषय में भी उतनी ही मात्रा में लागू होता है। इस चीज को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। ऐसा लगता है कि रवीन्द्रनाथ के दो प्रमुख आलोचक उनकी कटु आलोचना अलग-अलग कारणों से कर रहे थे। कालिप्रसन्न काव्य-विशारद का आक्रमण जहां उनकी शैली पर था, वहां द्विजेन्द्रलाल का विषय-वस्तु पर था, क्योंकि, उनके अनुसार, रवीन्द्रनाथ की रचनाएं नैतिक परम्पराओं के अनुरूप नहीं थीं। दोनों सूरतों में द्वेषपूर्ण रुख रवीन्द्रनाथ की मूलतः नई राह से पैदा हुआ।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, रवीन्द्रनाथ की नई शैली पुरानी परिपाटी से अलग थी। यद्यपि बंगला काव्य ने अपने आरम्भ काल में वैष्णव कवियों की रचनाओं में उच्च स्तर का वैशिष्ट्य प्राप्त कर लिया था, पर फिर धीरे-धीरे उसका पतन होने लगा। गौरव के उस पहले चरण के बाद बंगला कवि केवल भक्ति-रस के महाकाव्यों की ही रचना करने लगे और उनकी शैली उत्तरोत्तर औपचारिक और बेलोच होती गई। यह सच है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ईश्वरचन्द्र गुप्त ने, जो पाश्चात्य प्रभाव से पूर्णतः अछूते अन्तिम बंगला कवि थे, गीतों को फिर से जीवित किया। पर, तत्कालीन परम्परा के अनुरूप, वे पुरानी शैली से चिपके रहे और उसके दोष उनमें और गहरे हो गए। विषय का तुच्छ होना कोई खास बात नहीं थी, दुःख की बात तो यह थी कि एक बहुत ही कृत्रिम शैली के लिए, जिसके मुख्य लटके श्लेष और अनुप्रास थे, उनमें स्पष्ट आसक्ति दिखाई देती थी। उन गीतों की तुलना उस तरह के साहित्य से अच्छी तरह की जा सकती है जिसे अंग्रेजी काव्य में 'वाग्विलासिता' का नाम दिया गया है।

माइकेल मधुसूदन दत्त की प्रतिभा बंगला काव्य में कुछ नई विशेषताएं लाई जो पश्चिम से उधार ली गई थीं। प्राचीन महाकाव्यों के विषयों से उनकी आसक्ति यह साफ बताती है कि मिल्टन से उन्हें विशेष अनुराग था और, स्पष्ट है, उसी को उन्होंने अपना आदर्श बनाया। उन्होंने बंगला साहित्य में सानेट का सूत्रपात किया। अपनी सशक्त लेखनी से वे मुक्त छन्द की एक शैली विकसित कर पाए। यह विशेषता भी पश्चिम से उधार ली गई थी। इससे बंगला साहित्य में एक नई गरिमा आयी। यह सब, निःसन्देह, वांछनीय

था, पर आखिर तो यह एक मन-बहलाव ही था। इसकी नवीनता ने शुरू-शुरू में पाठक के हृदय को मुग्ध किया, पर शीघ्र ही इसका आकर्षण समाप्त हो गया। वैष्णव कवियों के पुराने गीतोंवाली सादगी और मोहकता बिलकुल लुप्त हो गई थी।

इसी पृष्ठभूमि में रवीन्द्रनाथ रंगमंच पर आए। उनकी शैली की सादगी पुराने चलन से बिलकुल अलग थी। परन्तु सब से नई चीज थी, जड़ पदार्थों और अमूर्त भावों तक में मानवीय गुण आरोपित करने की उनकी प्रवृत्ति। यह एक ऐसी चीज थी जिसे सहन करना कालिप्रसन्न काव्य-विशारद के लिए असम्भव था। एक ही उदाहरण से हमारी इस बात की पुष्टि हो जाएगी।

उनके संग्रह **'कोड़ी ओ कोमल'** की कविता **जोगिया** का विषय यह है कि एक सुहानी उजली भोर में कवि को रोमांच की अपूर्व अनुभूति होती है। इस भावना को व्यक्त करते हुए उन्होंने यह वाक्य प्रयुक्त किया था कि रोमांच की भावना पेड़-पेड़ पर नाच रही थी। वे जो कहना चाहते थे वह स्पष्ट था, अर्थात् रोमांच की जिस भावना की उन्हें हृदय में अनुभूति हो रही थी उसने पेड़ों के पत्तों पर खेलती सूर्य-किरणों के सौंदर्य में मूर्त रूप ले लिया था। यह धारणा काव्य-विशारद के लिए इतनी अनजानी थी कि वे इसका रस ले ही नहीं सकते थे, अतः उन्होंने इसका अनर्गल कहकर मजाक उड़ाया।

द्विजेन्द्रलाल राय के विचार में, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताएं इन्द्रिय-सुखपरायण थीं और उनसे अवैध प्रेम को बढ़ावा मिलता था।

उदाहरणार्थ, 1892 में प्रकाशित, मुक्त छंद में लिखा रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाटक चित्रांगदा उनके आक्षेप का विशेष लक्ष्य बना। महाभारत के नायक अर्जुन और मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा की प्रणय कथा पर आधारित यह नाटक एक नये विचार को बहुत ही नाटकीय ढंग से प्रतिपादित करता है। चित्रांगदा रूप की दृष्टि से बहुत ही सामान्य थी, पर उसकी प्रजा उससे प्रेम करती थी, क्योंकि अपनी पुरुषोचित क्षमताओं से उसने उसे सुरक्षा प्रदान की थी और मां-जैसे गुणों से उसे अपने स्नेह से अभिभूत कर रखा था। पर अर्जुन ने उसे अस्वीकार कर दिया।

इसे अपने नारीत्व का अपमान मान, उसने कामदेव मदन से सुन्दर रूप लिया और अर्जुन के सम्मुख फिर प्रकट हुई। इस बार वह आसानी से उसके सौंदर्य का शिकार हो गया। परन्तु शीघ्र ही वह उससे ऊबने लगा और कुछ समय बाद वितृष्णा की स्थिति पर पहुंच गया। दो चित्रांगदाओं में से,

जिनमें एक अपूर्व सुन्दरी थी और दूसरी, रूप की दृष्टि से सामान्य होते हुए भी, असाधारण नैतिक गुणों से सम्पन्न थी, उसने अन्त में दूसरी को ही चुना।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जो विचार रखना चाहते थे वह यह था कि शारीरिक सौन्दर्य पर आधारित प्रेम शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, पर जो नैतिक गुणों पर आधारित हो वह स्थायी होता है। यह विचार निर्दोष रूप से देखा जाना चाहिए। परन्तु कथा का यह पहलू द्विजेन्द्रलाल को नजर ही नहीं आया, क्योंकि कथा का सतही नैतिक पहलू ही उनके मन को पूरी तरह घेरे हुआ था। उन्होंने इसे सर्वथा अनिष्टकारी कहकर रद्द कर दिया, क्योंकि अर्जुन और चित्रांगदा के प्रेम को समाज का नैतिक अनुमोदन प्राप्त नहीं है। इसके उत्कृष्ट साहित्यिक गुणों को उन्होंने न पहचाना हो—यह बात नहीं थी। पर इसकी अनैतिकता पर उनको इतना रोष था कि उन्होंने यह सलाह दी कि यह पुस्तक जला देनी चाहिए।[1]

कठिनाई यह है कि इस तरह के आलोचक साहित्यिक कृति को, जो आखिर एक कलाकृति है, संकुचित दृष्टि से देखते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि किसी कलाकृति के गुणों की परख व्यापक दृष्टिकोण से करनी होती है। क्या यह रचना एक कलाकृति के रूप में पाठक की सौन्दर्यानुरागी भावना को स्पर्श करती है? उसे एक सुन्दर चीज लगती है? यदि लगती है तो, प्रचलित नैतिक नियमों के गौण व्यतिक्रमों के बावजूद, इसका प्रभाव कुल मिलाकर शुभ ही होना है, क्योंकि जो सुन्दर है वह अन्ततः शुभ के हित को भी आगे बढ़ाता है।

---

1. साहित्य, 1316 बं० सं० चैत्र अंक में प्रकाशित आलोचना।

6. विवाह और पारिवारिक जीवन

नौ दिसम्बर, 1883 को रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विवाह भवतारिणी देवी से हो गया। इस अत्यन्त सुसंस्कृत परिवार की अभिरुचि के अनुरुप, उसका नया नाम मृणालिनी देवी रखा गया। इस बात का विश्वसनीय प्रमाण मिलता है कि इस नव-दम्पति में शीघ्र ही गहरा प्रेम हो गया था।

1890 के अन्त में रवीन्द्रनाथ ने ब्रिटेन की दूसरी यात्रा की। उनके मित्र लोकेन्द्रनाथ और भाई सत्येन्द्रनाथ वहां की यात्रा के लिए लम्बी छुट्टियां ले रहे थे, जिससे जाहिर है उन्हें प्रोत्साहन मिला। तीनों साथ-साथ गए और लन्दन में एक साथ ही रहे। मृणालिनी देवी अपने पति के साथ नहीं गईं, शायद इसलिए कि तब तक उनके दो बच्चे हो चुके थे और तीसरा होने वाला था।

इस प्रकार यह यात्रा परिवार के बगैर हुई और इसका अर्थ कवि के लिए अपनी पत्नी से खासा लम्बा वियोग था। स्वभावत: यह प्रवास उनके लिए अपनी प्रिय पत्नी को पत्र लिखने का कारण बना। ये पत्र, अनुमान है, स्वयं पत्नी के आग्रह पर ही सुरक्षित रखे गए, क्योंकि वह इन्हें एक निधि की तरह अमूल्य मानती थी और उनका यह व्यवहार अकारण नहीं था। ये ऐसे प्यार-भरे लहजे में लिखे गए थे कि किसी भी सहृदय पाठक के हृदय को छू सकते थे। हमें इनकी विषय-वस्तु में जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मृणालिनी देवी को सम्बोधित करने के ढंग से ही इसका काफी प्रमाण मिल जाएगा कि उनमें कितना प्रेम था।

मृणालिनी देवी परिवार के सब से छोटे बेटे की पत्नी थी। इसीलिए, उस समय के चलन के अनुसार, **छोटो बउ** या छोटी बहू कहलाने लगी थी। अपने पत्रों में रवीन्द्रनाथ ने शुरू में उसे इसी ढंग से सम्बोधित करना आरम्भ किया। वे उसके पहले **भाई** शब्द जोड़ते थे, इस तरह **भाई छोटो बउ** उनका रीतिमत सम्बोधन बन गया। बंगला में किसी को **भाई** कहकर केवल तभी पुकारा जाता है जब उससे गहरा स्नेह हो। बाद में कवि के रोमाण्टिक मन ने उसमें थोड़ा परिवर्तन किया। छोटो बउ को घटाकर उन्होंने छूटी अर्थात् **अवकाश** कर

दिया। इस तरह **भाई छुट्टी** में यह ध्वनि रही होगी कि पति उसे मूर्तिमान छुट्टी, दैनिक जीवन की मुसीबतों और चिन्ताओं से निस्तार, के रूप में देखते थे।

इंग्लैंड की यह दूसरी यात्रा कतई सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुई। कार्यक्रम तो यह था कि जब तक उनके साथियों की छुट्टियां इजाजत देंगी तब तक वे वहीं रहेंगे। पर रवीन्द्रनाथ में उस पूरी अवधि को झेलने का धैर्य नहीं था। सोच-विचार कर उन्होंने प्रवास बीच में ही खत्म कर दिया और अकेले ही इंग्लैंड से चल पड़े। उनकी उस समय की डायरी से पता चलता है कि वे अगस्त में भारत से रवाना हुए थे, और पैरिस होते हुए 10 सितम्बर, 1890 को लन्दन पहुंचे थे। 9 अक्तूबर, 1890 को वे अकेले स्वदेश लौटने के लिए टिलबरी बन्दरगाह पर जहाज पर सवार हो गये।

जल्दी ही लौट आने के इस निश्चय का उन्होंने यह कारण बताया कि लन्दन का जीवन उन्हें बोर कर रहा था। शिष्टाचार का आदान-प्रदान, कभी किसी तो कभी किसी जगह को देखने जाना, खरीदारी और नाटक देखना-जैसे बंधे-बंधाये कामों से उन्हें कोई सन्तोष नहीं मिला।[1] जाहिर है, उसका एक कारण और भी था। पत्नी और बच्चों का वियोग उनके हृदय में कसक रहा था। इंग्लैंड जाते हुए अदन से उन्होंने अपनी पत्नी को जो पत्र भेजा, उसमें उस स्वप्न का जिक्र है जो उन्हें दिखाई दिया था। उन्होंने देखा कि कोई उन्हें बिस्तर पर लेटी अपनी पत्नी व बच्चों के पास ले गया है। इस स्वप्न का जिक्र करते हुए वे निःसंकोच स्वीकार करते हैं कि तुम लोगों का वियोग बहुत खल रहा है और तुम सब के पास लौट आने की तीव्र लालसा मेरे मन को बेचैन किए रहती है।

अपने पुश्तैनी मकान में बड़े आंगन के पश्चिम में दूसरी मंजिल पर टैगोर का कमरों का जो सेट था उससे उन्हें खास लगाव था। उसे आसानी से मकान का सब से अच्छा हिस्सा कहा जा सकता था। वहां पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ खुली जगह थी और दक्षिण की ओर लम्बी-चौड़ी छत फैली थी। यह महर्षि का अपना प्रिय सेट था। जब महर्षि ने अपने पुश्तैनी मकान में रहना बिलकुल छोड़ दिया, तो उनका बेटा ज्योतिरिन्द्रनाथ अपनी प्रतिभाशालिनी पत्नी कादम्बरी देवी के साथ उस हिस्से में आ गया। कादम्बरी

1. यूरोप यात्री डायरी, 6 अक्तूबर, 1890 की प्रविष्टि।

देवी ने उसे नये सिरे से सजाया और छत पर एक उद्यान लगा कर उसकी सुन्दरता और बढ़ा दी। रात होने पर परिवार के लोग छत के उस उद्यान में इकट्ठे होते थे और अपना समय बातचीत, गायन, साहित्य-चर्चा आदि में बिताते थे। कादम्बरी देवी उनकी जरूरतों का ध्यान रखती थी और उनके लिए जलपान आदि की व्यवस्था करती थी। 1884 में उसकी आकस्मिक मृत्यु से आमोद-प्रमोद का यह दौर समाप्त हो गया और ज्योतिरिन्द्रनाथ मकान के दूसरे हिस्से में चले गए।

तब रवीन्द्रनाथ ने यह सेट ले लिया और वे अपने परिवार के साथ वहां रहने लगे। उनके पांचों बच्चे वस्तुत: वहीं पैदा हुए।[1] छत का वह उद्यान मृणालिनी देवी की देखरेख में फिर गुलजार हो गया, छत पर पहले-जैसी फिर बैठकें जमने लगीं, और मेजवान की भूमिका भी मृणालिनी देवी के ऊपर आ गई। अपने मेहमानों के लिए खुद व्यंजन तैयार करने में उसे बड़ा आनन्द आता था।[2]

परन्तु, गृहस्थी का यह शान्त और संतोषमय जीवन परिवार के कर्ता के एक निश्चय से बदल गया, जो सम्भवत: उन्होंने वर्ष 1889 में लिया।

देवेन्द्रनाथ और उनके दिवंगत भाई गिरीन्द्रनाथ के परिवारों की आय का मुख्य स्रोत उत्तर बंगाल की पारिवारिक जागीरें थीं। देवेन्द्रनाथ स्वयं क्योंकि घर से दूर धर्मनिष्ठ जीवन बिताते थे, इसलिए पारिवारिक जागीरों की देखभाल के लिए उन्हें एक सुयोग्य व्यक्ति की सेवाओं की जरूरत थी। अपने सब से बड़े दामाद शारदा प्रसाद गांगुली में उन्हें एक अच्छे प्रबन्धकर्ता के गुण मिल गए। किन्तु शारदा प्रसाद की 1883 में मृत्यु हो गई, जिससे उनको एक योग्य उत्तराधिकारी ढूंढने की समस्या खड़ी हो गई। देवेन्द्रनाथ ने इन जागीरों की देखभाल अपने सब से छोटे बेटे रवीन्द्रनाथ को सौंपने का निश्चय किया।

पारिवारिक जागीरों का प्रबन्ध रवीन्द्रनाथ ने ठीक किस समय सम्भाला इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। शाहजादपुर के स्थानीय स्कूल की, जो जागीर का एक भाग था, निरीक्षण बही में रवीन्द्रनाथ की अपनी लिखावट में एक निरीक्षण-टिप्पणी मिलती है जिस पर 20 जनवरी, 1890 की तारीख

---

1. सरला देवी चौधरी: जीवनेर झरा पाता।

2. रवीन्द्रनाथ ठाकुर: म्रान ब ऐजिस आफ टाइम डिस्कवर्ड, मेमोरीज।

है। इससे आसानी से यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उन्होंने कम-से-कम उससे पिछले साल प्रबन्ध सम्भाल लिया था। इस तथ्य से इस बात की और पुष्टि होती है कि उन्होंने अपना नाटक **विसर्जन** 1889 में शाहजादपुर में रहते हुए ही लिखा था।

पारिवारिक सम्पत्ति में जो चार जमींदारी जागीरें थीं, उनमें से एक कटक में और बाकी तीन उत्तर बंगाल में थीं। ये तीन जागीरें इस प्रकार थीं: (1) शाहजादपुर तहसील, पबना कलेक्टरेट, सदर मुकाम शाहजादपुर; (2) बिरहिमपुर तहसील, नदिया कलेक्टरेट, सदर मुकाम शियालदह; और (3) कालिग्राम तहसील, राजशाही कलेक्टरेट, सदर मुकाम पटिसर।

उत्तर बंगाल की इन तीनों जागीरों का सदर मुकाम सियालदह में था। यह गंगा के दक्षिणी तट पे ऐसे स्थल पर है जिसके सामने नदी के उस पार पबना पड़ता है और जो सब-डिवीजन के मुख्य कस्बे कुश्तिया के नजदीक है--खेतों का एक फैलाव और गोराइ नदी ही बस उसके और इसके बीच में है। शाहजादपुर तहसील का दफ्तर उस नहर के किनारे था जो आगे आत्रेयी नदी से जुड़ जाती है। यह यमुना की एक सहायक नदी है जो स्वयं अपने निचले पाटों में गंगा से मिलती है। कालिग्राम तहसील का सदर मुकाम पटिसर नागर नाम की एक क्षुद्र नदी के तट पर है, जो आत्रेयी की सहायक नदी है। पटिसर और शाहजादपुर के प्रत्येक सदर मुकाम पर एक बंगला था, ताकि निरीक्षण अधिकारी निरीक्षण के दौरान वहां रह सकें। सियालदह के मुख्य दफ्तर के पास एक लम्बा-चौड़ा दो-मंजिला बंगला था जो जागीरों के मुख्य प्रबन्धकर्ता का स्थायी निवास-स्थान था।

इन जागीरों का प्रबन्धकर्ता हो जाने पर रवीन्द्रनाथ सियालदह के दो-मंजिले बंगले में रहने लगे। जरूरत पड़ने पर वे शाहजादपुर और पटिसर की ब्रांचों में जाते। पद्मा--इस भाग में गंगा का यही नाम है--और यमुना जैसी बड़ी नदियां राजमार्ग थीं, और सहायक नदियों से ब्रांचे-दफ्तरों में पहुंचा जा सकता था। अतः परिवहन का साधन, जाहिर है, बजरा ही था। रवीन्द्रनाथ पर अपना बजरा था जिसका नाम उन्होंने 'पद्मा' रखा था।

इस अवधि के दौरान उनके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। अपना अधिकतर समय वे अपनी जागीरों के काम-काज में बिताते, पर बीच-बीच में नियम से जोरासांको के अपने पारिवारिक घर में आ जाते। घर से दूर रहते हुए उनकी लेखनी निरन्तर चलती रहती, क्योंकि वहां केवल ग्रामीण वातावरण

ही अनुकूल नहीं था, बल्कि एकाकीपन भी उद्दीपक का काम करता था। जब रवीन्द्रनाथ कलकत्ता में होते तो विश्राम करते और इन दौरों का उपयोग अपनी रचनाओं के प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में करते।

इन्हीं दिनों पारिवारिक मकान में एक नया सांस्कृतिक क्लब स्थापित हुआ, जिसके प्रवर्तक उनके भतीजे बलेन्द्रनाथ और सुधीन्द्रनाथ तथा अन्य लोग थे। एक विचित्र प्रेरणा की धुन में, इसका नाम **खाम खेयाली सभा** रखा गया, यानी मन की सनकों से शासित क्लब। सर्वसम्मति से रवीन्द्रनाथ इस सांस्कृतिक संस्था के संरक्षक बने। उनके कलकत्ता के अल्प प्रवासों में क्लब जीवन्त हो जाता। साहित्यिक गोष्ठियां, संगीत संध्याएं होतीं और नाटक तक खेले जाते। जब वे जागीरों पर चले जाते तो क्लब निष्क्रिय हो जाता। इस तरह वह बहुत-कुछ उन तारों की तरह था जिनकी चमक घटती-बढ़ती रहती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी नवीनतम रचनाएं पहली बार प्रायः इन साहित्यिक गोष्ठियों में सुनाते। एक बार क्लब के सदस्यों ने नाटक प्रस्तुत करने का निश्चय किया, पर वे कोई उपयुक्त नाटक नहीं चुन पाए। तब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनकी लाज रखी और यह वायदा किया कि वे एक नाटक लिख देंगे और अगले दौरे पर उसे अपने साथ लेते आएंगे। उनके उपन्यास **राजर्षि** पर आधारित नाटक **विसर्जन** इसी तरह लिखा गया था। इस क्लब की साहित्यिक गोष्ठियां कलकत्ता के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित नागरिकों को आकर्षित करती थीं। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस, राजनीतिक नेता चित्तरंजन दास, प्रमथ चौधरी, संगीतकार अतुल प्रसाद सेन—उनमें से कुछ नाम हैं। सांस्कृतिक गोष्ठियों से पहले शानदार भोज होता। क्लब के संरक्षक के नाते रवीन्द्रनाथ उसका खर्च उठाते। भोज के व्यंजन तैयार करने का भार स्वभावतः उनकी पत्नी मृणालिनी देवी पर पड़ता, जो प्रत्येक अवसर पर नये व्यंजन प्रस्तुत करती।

इस मनोरंजक क्लब की गतिविधियां 1897 तक जोर-शोर से चलती रहीं परन्तु उसके बाद यह समाप्त हो गया। इसका कारण कोई छिपा नहीं है। उस साल रवीन्द्रनाथ अपने परिवार को सियालदह ले गए और कलकत्ता के उनके आए दिन के दौरे बन्द हो गए। क्लब को अपना आहार क्योंकि मुख्य रूप से उन्हीं से मिलता था, इसलिए उनकी अनुपस्थिति से वह अपने जीवन-सत्त्व से कट गया और समाप्त हो गया।

---

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर: मान व ऐजिस आफ टाइम, खाम खयाली सभा ।

उत्तर बंगाल का यह लम्बा प्रवास कई तरह से महत्वपूर्ण रहा। पहली बात तो यह कि बदली हुई परिस्थितियों का उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा उससे साहित्यिक गतिविधियों को खूब बढ़ावा मिला। दूसरे, उनकी साहित्यिक गतिविधियों को नये रास्तों पर ले जाकर उसने उन्हें नया मोड़ दिया। और आखिरी बात यह कि देहाती समाज के दीन-हीन वर्गों के सम्पर्क में आने से उनके मन में कल्याणकारी कार्यों के लिए उत्सुकता पैदा हुई, जिससे बाद में उन्हें गांवों के पुनर्निर्माण के कामों में दिलचस्पी लेने की प्रेरणा मिली।

नदियों पर नाव से यात्राएं करते हुए उन्हें प्रकृति अपने सभी रूपों में देखने को मिली। तट का निरन्तर बदलता दृश्य जहां उनकी आंखों को आहार देता और उन्हें आकर्षित रखता, वहां उस पर धब्बों की तरह बिखरे छोटे-छोटे गांव और घरेलू काम-काज में लगे सीधे-सादे देहाती लोग उनके हृदय को मुग्ध कर देते। विभिन्न स्थानों पर अपने पड़ावों से वे किसान, दस्तकार जैसे आम ग्रामीण लोगों, अपनी जागीरों के कर्मचारियों तथा गांव के पोस्ट मास्टर, किसी सुदूर थाने के सदर मुकाम का मुंसिफ और जमींदारों के नायब जैसे स्थानीय पदाधिकारियों के भी घनिष्ठ सम्पर्क में आए।

ऋतुओं का खेल देहाती दृश्यों को विविध रूप देता, जिससे उनका आनन्द और बढ़ जाता। उनके संस्मरणों के निम्नलिखित उद्धरण से पता चलेगा कि प्रकृति की विभिन्न छटाएं उन्हें कितनी तीव्रता से आकर्षित करती थीं।

> "सर्दी हो या गर्मी या बरसात, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। पद्मा पर मैंने सारे साल बहुत बार यात्रा की, सूरज की झुलसाती गर्मी और बरसात की मूसलाधार वर्षा की परवाह नहीं की। दूर तट पर पेड़ों की हरियाली से सुशोभित छायादार गांव उभरते और पास के तट पर पीली रेत का निर्जन प्रसार होता, और दोनों के बीच पद्मा की बहती धार पर दिव्य चितेरा धूप और छांव की कूची से तरह-तरह के बदलते दृश्य चित्रित करता जाता।"[1]

प्रकृति और देहात के सीधे सरल लोगों के साथ एक-साथ सम्पर्क से न केवल रवीन्द्रनाथ की कल्पना उत्तेजित हुई, बल्कि उनकी रचनाओं को एक नई दिशा भी मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि कविता का, जिससे उन्हें सब

1. सोनार तरी की प्रस्तावना

से अधिक प्रेम था, अधिकार उन पर ढीला हो गया, और इस तरह एक अभ्यागत—कहानियों—के लिए जगह हो गई। कविता लिखना उन्होंने बिलकुल बन्द कर दिया हो, ऐसा नहीं था, पर उसकी ओर उन्होंने उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि कहानियां लिखने के इस नये प्रेम को दिया। इस तरह हम देखते हैं कि बारह वर्ष के इस लम्बे अरसे में उनकी लेखनी ने कविताओं की केवल पांच पुस्तकें प्रस्तुत कीं जिनमें **सोनार तरी** और **चित्रा** शामिल हैं। लेकिन, दूसरी तरफ, उनके कहानी-संग्रह **गल्प गुच्छ** की कुल नब्बे कहानियों में से पचास इसी अरसे में लिखी गईं। उनमें **पोस्ट-मास्टर, काबुलीवाला, क्षुधित पाषाण** और **अतिथि** जैसे रत्न शामिल हैं।

पारिवारिक पत्रिका को कहानियां भेजते रहने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। 1877 में शुरू की गई पारिवारिक पत्रिका **भारती** को जहां उसका उचित भाग मिलता था, वहां 1891 में उनके भतीजे सुधीन्द्रनाथ द्वारा शुरू की गई पारिवारिक पत्रिका **साधना** के लिए भी वे खूब सामग्री भेजते थे।

उन्हें जो नया अनुभव हो रहा था वही उन्हें कहानियों के लिए कच्चा माल जुटाता था, इस बात की पुष्टि उनके संस्मरणों के इस उद्धरण से हो जाएगी।

> "मैं अपनी नाव को पद्मा से इच्छामती तक ले जाता जो पबना के कस्बे के गिर्द घूमती है, फिर बराल, हुरोसागर और चालन के कच्छीय प्रदेशों में से गुजरता और उसके बाद आत्रेयी, नागर और यमुना नदियां तथा शाहजादपुर जानेवाली नहर पर बढ़ता। दोनों तरफ ऐसे कस्बे मिलते जिनमें टीन की नालीदार चद्दर की छतवाली झोपड़ियां होतीं, पास की हाट पर नावों की भीड़ रहती। कभी पानी से कटे कगार मिलते और यत्र-तत्र जीवन्त गांव दिखाई पड़ते। कहीं ब्राह्मण के लड़के के पीछे जाता बच्चों का दल, कहीं गांव की चरागाहों पर इकट्ठे चरवाहे बालक, कहीं कैजुव्ह-रीना के पेड़ों से ढके पद्मा के ऊंचे तटों के गड्ढों में पक्षियों का झुण्ड देखने को मिलता। गांवों में घूमते हुए जो यह अनोखा अनुभव हुआ, इसी से मैंने अपनी कहानियों की फसल प्राप्त की।"

बंगाल के देहाती क्षेत्र के प्राकृतिक सौन्दर्य की छाप उनकी कविता पर भी पड़ी और वह उनकी कविताओं के लिए नया विषय बन गया। **सोनार तरी**

की कविताओं में जो विशेष मोहकता है वह इसी स्रोत से आयी है। इस संग्रह की अन्तिम कविता पर किसी रहस्यमय व्यक्ति द्वारा चालित नौका का जो बिम्ब छाया है उसकी प्रेरणा, जाहिर है, उन्हें पद्मा पर अपनी लम्बी नौका-यात्राओं से ही मिली थी। **चैताली** नाम का पूरा कविता-संग्रह भी इस सुन्दर प्रदेश का ही उपहार प्रतीत होता है। सुन्दर दृश्यों और गांवों की छोटी-छोटी घटनाओं का वर्णन इसमें इस तरह के सूक्ष्म विवरणों के साथ मिलता है कि वे पाठक की आंखों के आगे साकार हो उठती हैं। वर्णनात्मक काव्य यहां हमें अपने उत्कृष्ट रूप में मिलता है। उनके काव्य की विषय-वस्तु में भी गहरी ध्वनि आ गई और उनका मन गम्भीर विषयों की ओर मुड़ा।

बंगाल के देहाती क्षेत्र में रहते हुए रवीन्द्रनाथ में दो विभिन्न अन्तः प्रेरणाएं काम कर रही थीं। एक उन्हें एकाकी जीवन की ओर आकर्षित करती थी और ईश्वर के साथ आत्मिक एकता की लालसा पैदा करती थी, जिससे निर्दिष्ट समय पर **जीवन देवता** की उनकी धारणा का जन्म हुआ। दूसरी उनके मन में दीन-हीन वर्गों के कल्याण की गतिविधियों को आगे बढ़ाने की उत्कंठा पैदा करती थी। इससे कालान्तर में वे शिक्षा और ग्राम-कल्याण की गतिविधियों में दिलचस्पी लेने लगे।

देहाती वातावरण का बाह्य भौतिक आकर्षण जब क्षीण होने लगा तो ये परस्पर-विरोधी लालसाएं उनके जीवन पर हावी हो गईं। इन्हें वे अपने अन्तर्गगन के दो जुड़वां तारे कहते हैं।[2]

1896 में लिखी गई **चित्रा** की कविताओं में ये विरोधी भावावस्थाएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं। **चित्रा** में संकलित मन को झकझोर देनेवाली कविता **एबार फिराओ मोरे** में उन्होंने देहाती मजदूरों के दयनीय जीवन पर अपना आक्रोश व्यक्त किया है। उसके एक अंश का भावानुवाद इस प्रकार है :

> "तो आओ, कवि,
> यदि तुममें जीवन शक्ति है
> तो उसे अपने साथ लाओ और बांटो।

---

1. प्रवासी, वैशाख, 1344 अंक
(शांतिनिकेतन में बसने के उनके निश्चय के उत्तर बंगाल के साथ उनका संपर्क जब कट गया तो उनकी लेखनी से कहानियों का प्रवाह भी उतना प्रचुर नहीं रहा। रवीन्द्रनाथ इस कथन की पुष्टि करते हैं।)—सोनार तरी की प्रस्तावना।

2. चित्रा की प्रस्तावना।

यहां इतनी दरिद्रता है,
ये इतने रिक्त, दयनीय, बन्द और
अन्धकार में हैं,
इन्हें भोजन, प्रकाश, जीवन, खुली हवा की
शक्ति, स्वास्थ्य, उल्लास से उज्ज्वल दीर्घ जीवन की
और निर्भीक हृदय की जरूरत है।
इस दरिद्रता के बीच, कवि
देवलोक से एक बार
आत्मनिर्भरता की भावना लाओ।''

जैसा कि पहले जिक्र आ चुका है, रवीन्द्रनाथ 1897 में अपने बाल-बच्चों को सियालदह ले गए, जिसका मुख्य कारण बच्चों की शिक्षा की समस्या थी। जोरासांको के भीड़-भाड़वाले घर की बजाए, परिवार को वहां रहने के लिए एक लम्बा-चौड़ा बंगला मिल गया। बाहर के लोगों से सम्पर्क की गुंजाइश न रहने से, परिवार के लोग एक-दूसरे के और निकट आ गए। वस्तुतः, इससे रवीन्द्रनाथ को पहली बार खुद अपने परिवार के साथ अन्तरंगता से रहने का अवसर मिला।

सियालदह में कोई स्कूल नहीं था, इसलिए उन्होंने बच्चों की शिक्षा की घर पर ही व्यवस्था की। इसके अलावा, स्कूली शिक्षा उन्हें पसन्द नहीं थी, उसकी कटु स्मृतियां मन में थीं। लारेन्स नाम के एक अंग्रेज को उन्होंने अंग्रेजी पढ़ाने के लिए रखा और बंगले के बहिर्गृह में उसे रहने को स्थान दे दिया। गणित के लिए उन्होंने जगदानन्द राय को चुना। वैज्ञानिक विषयों पर उनके निबंध रवीन्द्रनाथ को पहले ही आकर्षित कर चुके थे, और इसीलिए उन्हें जागीर के कार्यालय में नियुक्त कर लिया गया था। शिवधन विद्यार्णव को संस्कृत पढ़ाने के लिए नियुक्त किया गया, और बंगला पढ़ाने की जिम्मा रवीन्द्रनाथ ने अपने ऊपर लिया।

उनके बच्चे **रामायण** और **महाभारत**—भारत के इन दो महाकाव्यों से परिचित हों इस बात का रवीन्द्रनाथ ने खास ख्याल रखा। उनका यह विचार था कि हमारी परम्परा में जो कुछ उत्कृष्ट है उसे बच्चों के मनों तक पहुंचाने के यही सर्वोत्तम माध्यम हैं। वे एक उपमा दिया करते थे कि जिस तरह गंगा और यमुना ये दो नदियां गंगा के मैदान के करोड़ों लोगों को

1. प्रभात कुमार मुखोपाध्याय: रवीन्द्र जीवनी

आहार प्रदान करती हैं, उसी तरह ये दो महाकाव्य भारत की सन्तानों को आत्मिक आहार प्रदान करते हैं। कृत्तिबास-कृत **रामायण** और काशीराम दास-कृत **महाभारत** में इनके अच्छे बंगला रूपान्तर उपलब्ध थे। पर वे बच्चों के लिए बहुत बड़े थे, इसलिए उनकी यह बड़ी इच्छा थी कि इन मूल महाकाव्यों के संक्षिप्त संस्करण तैयार हों।

अतः उन्होंने अपने भतीजे सुरेन्द्रनाथ ठाकुर को **महाभारत** का एक संक्षिप्त बंगला संस्करण तैयार करने को प्रोत्साहित किया। **रामायण** का काम उन्होंने अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को सौंपा। पर वह, उस काम को पूरा कर सके इससे पहले ही, काल के क्रूर हाथों का शिकार हो गई।

खुद अपनी ओर से मृणालिनी देवी ने कुछ ऐसे कदम उठाए जो मौलिक और रूढ़ि से हटकर थे। उसने परिवार के नौकरों को रविवार को छुट्टी देने और उनके काम अपने बच्चों को सौंपने का फैसला किया। इससे जहां नौकर आराम कर सकते थे, वहां बच्चों को विभिन्न घरेलू काम सीखने का अवसर मिलता था।

पर, सियालदह के वीराने में अपने को निर्वासित कर लेने से भी रवीन्द्रनाथ स्वेच्छा से स्वीकार किए गए अपने अकेलेपन को बचा नहीं सके। उनका अपना आकर्षण और कलानुराग अतिथियों को बाहर से आकर्षित करने लगा। वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस कलकत्ता से आ जाते; इतिहास-विद् अक्षय कुमार मैत्रेय राजशाही से आ पहुंचते; यहां तक कि उनके प्रसिद्ध आलोचक द्विजेन्द्रलाल राय भी, जो उन दिनों कुश्तिया में सब-डिवीजनल आफिसर नियुक्त थे, उनका आतिथ्य स्वीकार करने में संकोच न करते। अन्य लोगों में उनके लड़कपन के दोस्त लोकेन पलित और नाटोर के जमींदार जगदिन्द्रनाथ र शामिल होते । इन लोगों के आने से सियालदह में साहित्यिक और सांस्कृतिक गोष्ठियों का जुगाड़ हो जाता । कभी-कभी चित्तरंजन दास की बहन अमला दास के आ जाने से इन गोष्ठियों का आकर्षण और बढ़ जाता, क्योंकि वे गीतों से सब को खूब तृप्त करतीं।[1]

इस तरह चार वर्ष बीत गए, जिसमें घर के लोग सुन्दर ग्राम्य परिवेश में संयुक्त पारिवारिक जीवन का सौभाग्य भोगते रहे। पर, दो कारणों से यह मोहक इन्द्रजाल टूट गया। पहला कारण तो यह था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर: ग्रोंन व एजिस ऑफ टाइम, एंड सियाल

का सब से बड़ा लड़का रथीन्द्रनाथ अब उस उम्र का होने जा रहा था जब उसके लिए सहपाठियों के साथ नियमित रूप से स्कूल में शिक्षा जरूरी थी। दूसरे, उनके मन में निःस्वार्थ सेवा द्वारा आत्माभिव्यक्ति की लालसा तीव्र हो गई और उसने समाज-सेवा की प्रेरणा का रूप लिया।[1] इन दोनों कारणों के योग ने इस विचार को जन्म दिया कि बच्चों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप एक संस्थान स्थापित किया जाए। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन में, जहां उनके पिता ने एक छोटी बस्ती बना रखी थी, एक अधिवासी स्कूल स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण निश्चय कर लिया।

दिसम्बर, 1901 में उनका परिवार शान्तिनिकेतन आ गया और वहां पांच छात्रों से, जिनमें रथीन्द्रनाथ भी था, ब्रह्मचार्य आश्रम खोल दिया गया। परन्तु, शीघ्र ही रवीन्द्रनाथ के सामने स्कूल के लिए पैसे की समस्या खड़ी हो गयी। शान्तिनिकेतन की सम्पत्ति से साल में 1800 रुपये की आय थी जो-कुछ भू-सम्पत्तियों से लगान के रूप में प्राप्त होती थी। यह दिन-ब-दिन बढ़ते खर्च के लिए मुश्किल से ही काफी बैठती थी। अतः, पिता की ओर से उन्हें जो निजी भत्ता मिलता था उसका एक बड़ा भाग स्कूल के खर्चों को पूरा करने के लिए लगाना पड़ा। जब वह भी काफी नहीं रहा, तो रवीन्द्रनाथ को आवश्यक धन जुटाने के लिए पुरी का वह मकान बेचना पड़ा जो उन्होंने खुद अपनी आय से खरीदा था। ऐसा लगता है कि रुपयों के लिए मृणालिनी देवी को अपने कुछ जेवर भी बेचने पड़े।

परन्तु, फिर भी शान्तिनिकेतन का वह पारिवारिक जीवन बहुत दिन नहीं चला। बरसात में मृणालिनी देवी शान्तिनिकेतन में बीमार पड़ गई और स्थानीय डाक्टरों से बीमारी ठीक नहीं हो पायी। तब बेहतर इलाज के लिए उसे जोरासांको के पारिवारिक मकान में लाया गया। लम्बी बीमारी के बाद, जो उसने बड़े धीरज से सही, 23 नवम्बर, 1902—बंगला संवत् अग्रहायण 7, 1309—को उसका देहान्त हो गया।

ऐसा कहा जाता है कि उसकी मृत्यु का धक्का उनके लिए बहुत गहरा था। मृत्यु वाले दिन रवीन्द्रनाथ ने सारी रात मकान की छत पर अकेले टहलते हुए काटी। परन्तु, इसके सिवा उनके शोक की कोई बाह्य अभि-व्यक्ति नहीं हुई। दुःख की पीड़ा उन्होंने महसूस न की हो, यह बात

1. द रिलिजन ऑफ मैन, द टीचर

नहीं थी। पर अपने दुःख को दूसरों की नजरों से छिपाना वे जानते थे। इसके पीछे यह विवेकशीलता थी कि जो दुःख बिलकुल अपना है उससे औरों को कष्ट देना अनुचित है। उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियों के इस भावानुवाद से इस विषय पर उनके रुख का पता चलता है:

"दुःख के दिन अपनी लेखनी से कहता हूं
मुझे लज्जित न करो,
जो बिलकुल मेरा अपना है
उसे दूसरों के सामने न ला।
अपना चेहरा अंधेरे में मत छिपा,
अपना द्वार बन्द मत कर।"[1]

परन्तु इस मौके पर उनका हृदय जिस दुःख में डूबा था, उसकी अभिव्यक्ति प्रच्छन्न रूप से उन कविताओं में हुई जो पत्नी की मृत्यु के बाद दो महीनों में उन्होंने लगातार लिखीं। बाद में शीघ्र ही वे पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुईं। जिसका नाम था **स्मरण**। यह पुस्तक मृणालिनी देवी को सीधे-सीधे तो समर्पित नहीं की गई थी, पर समर्पण के लिए नियत पृष्ठ पर केवल उसकी मृत्यु की तारीख थी।

इससे बंगला साहित्य को प्राण प्रिया की मृत्यु के शोक में लिखी कविताओं का एक सर्वश्रेष्ठ संग्रह मिला, जिसकी तुलना विश्व साहित्य की इसी तरह की अन्य कृतियों से की जा सकती है। इसकी एक कविता कवि ने स्वयं अंग्रेजी में रूपान्तरित कर अंग्रेजी **गीतांजलि** में शामिल की है। घर में उसके अभाव से उनके हृदय को जो पीड़ा होती है, उसका इस कविता में स्पष्ट चित्र है और वे अपने रिक्त जीवन को अनन्त में निमज्जित कर सान्त्वना पाने की कोशिश करते हैं।[2]

1. **पुनश्च, विश्वशोक**
2. **गीतांजलि 87 इन डेस्परेट होप आइ गो एण्ड सर्च**

7. शिक्षा में प्रयोग

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म अत्यन्त धार्मिक वातावरण में हुआ था, जो घर में धर्मनिष्ठ पिता के कारण बन गया था। अतः, धार्मिक जीवन की उन्हें बचपन में ही दीक्षा मिल गई। प्रकृति से धार्मिक स्वभाव के होने के कारण, उन्होंने आसानी से अपने को उसके अनुरूप ढाल लिया। इस प्रकार उनका जीवन दो तरह की अभिरुचियों में विभाजित था, साहित्य-साधना और धर्मनिष्ठ जीवन। लेकिन बाद में, जब वे सियालदह में रहे थे, अधिक गहरे सवाल उनके मन को क्षुब्ध करने लगे और धर्म की उनकी अपनी कल्पना धीरे-धीरे उनके मन में उभरने लगी। अपने धर्म को यद्यपि वे अभी तक खोज नहीं पाए थे, पर धुंधले तौर पर यह जरूर महसूस कर रहे थे कि उस में मानव को स्थान देना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, उनके मन में मानववादी विचारों के अंकुर फूटने लगे। इससे उनमें अकेलेपन के उस घेरे को तोड़ने की प्रेरणा जागृत हुई, जो उनके गिर्द एक ओर उनकी साहित्यिक गतिविधियों और दूसरी ओर उनके धर्मनिष्ठ जीवन के कारण बन गया था। वे कोई कल्याणकारी कार्य शुरू करने की आवश्यकता अनुभव करने लगे।

वे कहते हैं, "ध्यान में अकेले अनन्त का आनन्द लेते रहने में अब मुझे सन्तोष नहीं होता था, और अपनी मूक अपराधना के लिए मैं शास्त्र के जिन वचनों का उपयोग करता था उनकी प्रेरणा अनजाने ही समाप्त हो गई।"[1] वे यह भी बताते हैं कि साहित्यिक जीवन के अकेलेपन से बाहर आने की उत्कट इच्छा उन्हें अनुभव होने लगी।

इस तरह रवीन्द्रनाथ के जीवन में एक मोड़ के लिए पीठिका तो तैयार हो चुकी थी; जरूरत सिर्फ ऐसे अवसर की थी जो उन्हें निर्णय के लिए उत्तेजित कर सके। यह अवसर उनके सब से बड़े बेटे रथीन्द्रनाथ की शिक्षा की समस्या के रूप में सामने आ गया। वह तेरह साल का हो चुका था। प्राइवेट अध्यापकों की देखरेख में घर पर ही शिक्षा उसकी जरूरतों को पूरा नहीं कर पा रही थी। अब वह समय आ पहुंचा था जब उसे किसी स्कूल में

---

1. रिलिजन ऑफ मैन, द हीबर

दाखिल कराना जरूरी था, जहां वह अन्य छात्रों के साथ अपनी पढ़ाई जारी रख सके।

सामान्य परिस्थितियों में यह समस्या उसे कलकत्ता में उसके ताउओं की देखरेख में रख कर सुलझायी जा सकती थी, जहां उसे किसी अच्छे स्कूल में दाखिल किया जा सकता था। परन्तु इस तरह की स्कूली शिक्षा के प्रति रवीन्द्रनाथ में गहरी अरुचि थी। उनके कथन के निम्नलिखित उद्धरण से उनके विचार की एक झलक मिलती है :

"लड़कपन में मुझे स्कूली शिक्षा की इस प्रणाली के अधीन कटु यातना सहनी पड़ी। इस प्रणाली ने मुझे इतना कष्ट दिया और इतनी चोट पहुंचाई कि बड़े होने पर भी मैं उसे भूल नहीं पाया। इस प्रणाली में बच्चे को प्रकृति की गोद और समाज से अलग कर दिया जाता है, और स्कूल के नाम से चलनेवाले एक कारखाने में रख दिया जाता है। इसके अस्वाभाविक वातावरण की कुढ़न बच्चे के मन को रोज यातना देती है।"[1]

अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि वे अपने बेटे को इस अनुभव का शिकार बनाना नहीं चाहते थे। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि एक ऐसा स्कूल खड़ा किया जाए जो उनके अपने विचारों के अनुरूप हो, उसे शिक्षा का अधिक प्रभावशाली साधन बनाया जाए और शिक्षा को एक आनन्दप्रद अनुभव में परिवर्तित किया जाए। इस तरह, कवि को स्वयं शिक्षक की भूमिका निभाने के लिए काव्य के अपने एकान्त से बाहर आना पड़ा।

इस संस्थान के लिए, जाहिर है, शान्तिनिकेतन का स्थल ही चुना गया। उनके पिता ने एक बस्ती वहां पहले ही बना रखी थी। महर्षि ने 1887 में जो न्यास-पत्र किया था उसमें इस जगह के विकास का एक कार्यक्रम भी था, जिसमें एक पुस्तकालय और स्कूल की स्थापना शामिल थी। उसमें यह भी व्यवस्था थी कि जिस दिन महर्षि ने ब्रह्म धर्म की दीक्षा ली, उसकी स्मृति में एक वार्षिक मेला आयोजित करने के लिए कदम उठाये जाएं। पर इन विचारों को कार्यान्वित करने के लिए तब तक कुछ नहीं किया गया था। रवीन्द्रनाथ का अपना प्रस्ताव जब उनके पिता को बताया गया तो उन्होंने तुरन्त उसे अपना आशीर्वाद दे दिया।

1. विश्व-भारती

यहां यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि लड़कपन में पिता के साथ पहली बार यहां की अपनी यात्रा की मधुर स्मृतियां रवीन्द्रनाथ मन में संजोए हुए थे, और उनका भी इस निर्णय पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। यहां उन्हें प्रकृति के साथ वास्तविक सम्पर्क का पहला आह्लादकारी अनुभव हुआ था। इस ऊंचे-नीचे ऊसर क्षेत्र ने, जिस पर जगह-जगह ताड़ के पेड़ों के झुरमुट थे, अपने सौन्दर्य से उनके हृदय को इस तरह मुग्ध किया था जैसा कि पहले कोई चीज नहीं कर सकी थी।[1]

फिर रवीन्द्रनाथ के मन में भारत के प्राचीन आश्रमों के लिए, जो तपोवन कहलाते थे, गहरा आदर था। संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों में इन आश्रमों के विशद वर्णन मिलते हैं। उनमें **रामायण**, बाण भट्ट-रचित **कादम्बरी** और कालिदास की रचनाओं के वर्णनों ने उनका ध्यान विशेष रूप से खींचा था। कालिदास का **रघुवंशम्** काव्य वसिष्ठ के आश्रम के मनोहर वर्णन से ही आरम्भ होता है। उनके **अभिज्ञानशाकुंतलम्** नाटक के दो पूरे अंकों में स्थान, नायिका के पालक-पिता कण्व का तपोवन ही है। रवीन्द्रनाथ का यह ख्याल था कि इन आश्रमों को चित्रित करनेवाले दृश्यों के लिए कालिदास का बेहद मोह यह दर्शाता है कि अनन्त के निकट सान्निध्य से संरक्षक राजा के दरबार में निर्वासन ने उनके हृदय में उनके लिए एक गहरी प्यास जगा दी थी।

उनका यह निष्कर्ष सही था कि प्राचीन भारत के पितृसन्तात्मक समाज के ये आश्रम ऐसे लोगों की बस्तियां नहीं थीं जो संस्कृति और मन से आदिम थे। इन आश्रमों के सच्चे स्वरूप की सराहना उनके विचारों के इस उद्धरण में बड़ी कुशलता से व्यक्त हुई है: "वे लोग सत्य के अन्वेषक थे और उसके लिए ऐसे वातावरण में रहते थे जो पवित्रता का था, विशुद्धिवाद का नहीं, सादा जीवन का था, आत्मदमन का नहीं।"[2] यह चीज उन्हें प्रशंसनीय लगती थी कि उनका आचरण "नकारात्मक संन्यास के दर्शन पर आधारित नहीं था, बल्कि पूर्णत: व्यापक आत्मज्ञान पर आधारित था।[3]

इस तरह के आत्मिक निर्वासन की यन्त्रणा को, कालिदास की तरह, वे क्योंकि स्वयं भोग चुके थे, अत: अपने लिए वे प्राचीन तपोवनों के ही

1. उनका लेख, तपोवन
2. रिलिजन ऑफ मैन, द टीचर
3. वही

ढंग की एक बस्ती बनाना चाहते थे। शहरी जीवन से उन्हें वितृष्णा थी, यह स्पष्ट था।

नये संस्थान के लिए जगह निश्चित हो जाने पर यह सवाल आया कि उसका रूप क्या हो। रवीन्द्रनाथ चाहते थे कि वह अपने ढंग का विशिष्ट संस्थान होना चाहिए। शिक्षा-पद्धति दूसरे ढंग की हो यह उनकी इच्छा थी, पर साथ ही उनकी दृष्टि शिक्षा के क्षेत्र के प्रसार पर भी थी। उदाहरण के लिए, उन्हें यह बात बहुत खलती थी कि स्कूलों में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में नैतिक चरित्र के निर्माण की कोई व्यवस्था नहीं थी, अलबत्ता मिशनरी स्कूलों में धार्मिक शिक्षा की कुछ व्यवस्था जरूर थी। वे चाहते थे कि शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि शिक्षण विद्यार्थी के लिए एक आनन्ददायी और रोचक अनुभव बन जाए। उन्होंने इस विषय पर गहरा मनन किया और उन्हें लगा कि इसमें निम्नलिखित विशेषताएं होनी चाहिएं।[1]

वे चाहते थे कि इसका स्वरूप अधिवासी संस्थान का हो, जिससे कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच निकट सम्पर्क सुनिश्चित हो जाए और उनमें व्यक्तिगत सम्बन्ध विकसित हो सके। वे भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को पुनर्जीवित करने के पूर्णतया पक्ष में थे, जिसमें विद्यार्थी पिता का घर छोड़ गुरु के परिवार के संरक्षण में रहा करता था। इसीलिए, उनका यह भी आग्रह था कि अध्यापक को संस्थान के परिक्षेत्र में अकेले नहीं बल्कि अपने परिवार के साथ रहना चाहिए। निःसन्देह, छात्रों को अध्यापक के साथ एक घर में तो रखा नहीं जा सकता था, क्योंकि उसमें व्यावहारिक कठिनाइयां थीं, अत: उन्हें छात्रावास में रखना था।

प्राचीन प्रणाली में यह व्यवस्था थी कि शिक्षा-काल में विद्यार्थी बृह्मचर्य का पालन करें जिसका अर्थ उस सन्दर्भ में अनुशासित जीवन व्यतीत करना था। रवीन्द्रनाथ की इच्छा थी कि उनके स्कूल में यह चलन भी फिर से प्रचलित हो। इस प्रणाली की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं : "हमारे आचार्यों ने इसीलिए, इस कार्यक्रम के लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए, जीवन के पहले आश्रम- शिक्षा-काल में केवल पुस्तकों और चीजों के अध्ययन का ही नहीं बल्कि बृह्मचर्य-अनुशासित जीवन-का भी विधान किया, जिससे कि सुदृढ़ चरित्र भोग और

1 शिक्षा समस्या

त्याग दोनों को एक-जैसे शान्त चित से ग्रहण कर सकें।'''

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि रवीन्द्रनाथ ने इस मार्ग का विधान कोई वैराग्य से प्रेम के कारण नहीं किया था। वैराग्य का कड़ा संयम, केवल संचय की खातिर, उन्हें पसन्द नहीं था। क्योंकि वे उसे विशुद्ध नकारात्मक रुख मानते थे। उनका तर्क था कि किसान अपने खेत को इसलिए नहीं जोतता है कि उसे बिना बोए छोड़ दे, बल्कि फसल उगाने के लिए जोतता है। इसी तरह, जीवन के पहले आश्रम में ब्रह्मचर्य के पालन का आदेश विद्यार्थी में अनुशासन की भावना भरने के लिए दिया गया है, जिससे कि उचित शिक्षा के लिए पीठिका तैयार हो सके।

ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह मानते थे कि अनुशासन और शिक्षा की अधिवासी प्रणाली एक-दूसरे की पूरक है, इसलिए दोनों चीजें साथ चलनी चाहिएं। वे यह महसूस करते थे कि नैतिक शिक्षा का कारगर ढंग, क्लास में लैक्चर या विद्यार्थी को उपदेश देना हो ही नहीं सकता। उसे तो वातावरण से लेना होता है। अध्यापक का आचरण और उसके कार्यों की नैतिकता ही ज्यादा कारगर ढंग से विद्यार्थी के चरित्र का निर्माण करते हैं।

फिर, वे यह भी सोचते थे कि चरित्र का निर्माण करने वाले जीवन के इस चरण में विद्यार्थी को सामान्य जीवन के थपेड़ों के आगे खुला नहीं छोड़ देना चाहिए। उसमें खतरा यह है कि अधमचरित्र लोगों का आचरण किशोर मनों पर बुरा प्रभाव डाल, उनमें समय से पहले ही अनुचित इच्छाएं जगा सकता है। जैसे एक नाजुक पौधे को भेड़-बकरियों से बचाना जरूरी है, उसी तरह उन्हें ऐसे लोगों के सम्पर्क से अलग रखना जरूरी है। अनुशासन की प्रक्रिया से उनमें आंतरिक नियन्त्रण की एक व्यवस्था के निर्माण में भी मदद मिलेगी, जिससे बाद के जीवन में वे दूसरों के अनुचित कार्यों का सामना कर सकेंगे।

यह भी हमारे देश की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के स्वीकृत आदर्शों के अनुरूप है। तैत्रेय उपनिषद् में यह निर्देश है कि शिक्षक को सदाचार की केवल सीख ही नहीं देनी चाहिए, बल्कि अपने खुद के कार्य से उसका

1. रिलिजन आफ मैन, द फोर स्टेजिस आफ लाइफ

समस्या

उदाहरण सामने रखना चाहिए। यह भी कहा गया है कि विद्यार्थी को शिक्षक के केवल ऐसे आचरण का अनुकरण करना चाहिए जो अच्छा हो। शिक्षक को दी गई पदवी **आचार्य** का ही अर्थ है, ऐसा व्यक्ति जिसका आचरण निर्दोष है।[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर यह जानते थे कि इस संस्थान का परिवेश, प्राचीन आश्रमों की तरह, ग्रामीण रखने के उनके आग्रह को आधुनिक ढंग से सोचने के आदी शिक्षाविद् नीची निगाह से देखते हैं। वे इसे रहस्यवाद कहते थे और विवेक की बजाय भावना से प्रेरित विचार मानते थे।[1] परन्तु उनका वस्तुतः यह विश्वास था कि उनकी योजना विवेक पर आधारित है। उनका तर्क था कि खुले आकाश के नीचे प्रकृति की गोद में जो जीवन है, वह बढ़ते हुए बच्चे के शरीर और मन दोनों के लिए हितकर है। लेकिन, इसके अलावा भी एक और बात है। शहरी जीवन मनुष्य के इतिहास में एक नया विकास है; यह उसकी व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उभरा है। आर्थिक मूल्यों को छोड़ बाकी अन्य मूल्यों के प्रति यह बिलकुल उदासीन है। इसीलिए इसमें ऐसा कृत्रिम वातावरण बन जाता है कि वहां रहने-वाले लोग प्रकृति और उसके स्वास्थ्यकर स्पर्श से अपरिचित हो जाते हैं। उनके विचार से, कम-से-कम एक बढ़ते हुए बच्चे के लिए यह वातावरण निश्चित रूप से प्रतिकूल है और उसके आत्मिक विकास में बाधा पहुं-चाता है। इसीलिए ग्रामीण परिवेश बेंचों और ब्लैक-बोर्ड जैसे उपकरणों से अधिक आवश्यक है।[2]

एक मार्गदर्शक सिद्धान्त उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि इस **आश्रम** में रहनेवाले छात्रों को संस्थान के संचालन में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उदाहरण के लिए, उन्हें संस्थान के परिक्षेत्र को स्वच्छ रखने, उद्यान लगाने और छात्रावास के संचालन के विविध कार्य सौंपे जा सकते हैं। इससे न केवल उनकी अतिरिक्त ऊर्जा को निकास का मार्ग मिलता, बल्कि उनके चरित्र के निर्माण में भी अनेक तरह से सहायता मिलती है। संस्थान के परिक्षेत्र में स्वस्थ और सुन्दर वातावरण बनाने के अपने प्रयत्न से, उन्हें रचनात्मक प्रयासों में भाग लेने का आनन्द मिलता है

1. **शिक्षा समस्या**
2. **वहीं**

और उनका सौंदर्य-बोध विकसित होता है। छात्रावास के संचालन के कार्यों से वे यह महसूस करने लगते हैं और उनमें यह भावना विकसित होती है कि संस्थान हमारा है, मात्र दायित्व की भावना ही नहीं बल्कि संस्थान की सेवा के सहकारी प्रयासों के लिए रुचि भी पैदा होती है।

यहां भी रवीन्द्रनाथ प्राचीन आश्रमों के उदाहरण से प्रभावित लगते हैं। संस्कृत गद्य गाथा **कादम्बरी** के एक तपोवन के वर्णन का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं : "आश्रम पर सांझ इस तरह उतर रही है मानो पिंगल गौ-समूह गोशाला को लौट रहा हो। यह मुझे इस बात की याद दिलाता है कि गायों को चराना, दोहना, हवन के लिए लकड़ियां इकट्ठी करना, अतिथियों की देखभाल, हवन की वेदी तैयार करना आश्रम के बालक-बालिकाओं की दिन-चर्या का अंग है। इस तरह के कामों से उनका जीवन आश्रम के संघीय जीवन के साथ गहरा गुंथ जाता है। आश्रमवासी इस तरह सहकारी कार्यों के जरिए अपने हाथों से हर घड़ी बंधुत्व की एक व्यापक भावना तैयार करते हैं। मैं चाहता हूं कि हमारे **आश्रम** में इस तरह की सतत उत्साहपूर्ण सहकारी गतिविधियां फिर से जीवित हों।"[1]

रवीन्द्रनाथ यह भी चाहते थे कि कक्षाएं खुली हवा में पेड़ों के नीचे लगें। इस मामले में उनके कोई कट्टर विचार नहीं थे और न यह हठधर्मी थी कि छात्र क्लास के कमरों में बैंचों पर कभी बैठें ही नहीं। एक सीमा तक, वे दो कारणों से इसके पक्ष में थे। पहला यह कि उनके विचार से खुली हवा में लगनेवाली इस तरह की कक्षाओं से प्रकृति के साथ गहरे सम्पर्क को बढ़ावा मिलता है और शिक्षा का स्वरूप अनौपचारिक हो जाता है, जिससे उसमें आनन्द लिया जा सकता है। उनका निर्देश था कि अनुकूल ऋतुओं में कक्षाएं खुली हवा में छायादार पेड़ों के नीचे लगनी चाहिएं। अध्यापक छात्रों के साथ पेड़ के नीचे टहलते हुए भी उन्हें पाठ पढ़ा सकता है। संगीत और पौराणिक कथाओं के पाठ शाम को आकाश के शामियाने के नीचे हो सकते हैं; और खगोल का अध्ययन रात में बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है, जब कि ऊपर विशाल नभ में नक्षत्र और तारा-मण्डल आंखों के सामने फैले होते हैं। जाहिर है कि यहां उनका बचपन का वह निजी अनुभव मार्गदर्शन कर रहा था जब वे हिमालय के अपने लघु

1. आश्रम शिक्षा

प्रवास में पिता से स्वयं इस तरह के पाठ लिया करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक और भी विचार था जिसने उन्हें खुली हवा में कक्षाओं के लिए प्रेरित किया। इससे शिक्षा सस्ती हो जाती है। उनका तर्क था कि कुर्सी, मेज और बेंच जैसे उपकरणों की मांग वास्तविक आवश्यकताओं से उतनी प्रेरित नहीं है जितनी कि पाश्चात्य जीवन-प्रणाली की नकल के अंधे उन्माद से है।[1] गरीब देश होने के कारण हममें इस तरह के खर्चों की क्षमता नहीं है। हमारे यहां जलवायु उग्र नहीं है, इसलिए हम जमीन पर बैठ सकते हैं। खास कर गर्मियों में तो खुली हवा में कक्षाएं कमरों में लगनेवाली कक्षाओं से अधिक आनन्ददायी होती हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना शान्तिनिकेतन में 22 दिसम्बर, 1901 को पांच छात्रों के एक वर्ग से हुई, जिनमें कवि का पुत्र रथीन्द्रनाथ भी था। जो अध्यापक इस संस्थान से सब से पहले जुड़े, वे थे : एक सिंधी विद्वान रेवाचन्द और शिवधन विद्यार्णव जो प्राईवेट अध्यापक की हैसियत से सियालदह में रथीन्द्रनाथ को संस्कृत पढ़ाया करते थे। परन्तु जो व्यक्ति इस संस्थान का मुख्य स्तम्भ बना वह ब्रह्मबांधव उपाध्याय नाम का एक मनोहारी व्यक्तित्व था। उनका असली नाम था भवानी चरण बनर्जी। युवावस्था में प्रवेश करते ही वे केशवचन्द्र सेन की ओर आकर्षित हो गए थे। पर बाद में ईसाई धर्म की ओर बह गए और रोमन कैथलिक ईसाई हो गए। एक जीवन्त व्यक्तित्व के अलावा, उनमें देशप्रेम की भावनाएं भी गहरी थीं और अपनी प्राचीन विरासत के लिए उनमें बहुत आदरभाव था। इस संस्थान को चलाने के लिए वे स्वेच्छा से आगे आए। अतः रवीन्द्रनाथ का अपने को उनका हृदय से आभारी मानना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[2]

उपाध्याय, रवीन्द्रनाथ की ओर उनके काव्य-संग्रह **नैवेद्य** पुस्तक के कारण आकर्षित हुए जो इस नये स्कूल की स्थापना के ठीक पहले प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की कविताओं से उनके काव्य में कुछ नई विशेषताओं का सूत्रपात हुआ। ये कविताएं, जो अधिकतर सानेट की विद्या में लिखी गई थीं, गम्भीर विषयों पर थीं, जिनमें आकर्षण के मुख्य बिन्दु थे : ईश्वर, देशभक्ति की भावनाएं और भारत की प्राचीन संस्थाओं और संस्कृति की हार्दिक सराहना। इनमें दार्शनिक विषय भी लिए गए थे, जिनमें शंकरा-

---

1. शिक्षा समस्या
2. आश्रमेर रूप ओ विकास, पृष्ठ 8

चार्य के अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध तर्क थे। इन कविताओं में एक नई प्रेरणा थी जिसने उपाध्याय का ध्यान आकर्षित किया। वस्तुतः उन्होंने **ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी** पत्रिका में, जिसका वे स्वयं सम्पादन करते थे, इस पुस्तक की सराहना करते हुए एक समीक्षा प्रकाशित की थी।

उपाध्याय ने कुछ समय तक ब्रह्मचर्य आश्रम की बहुत ही उत्साह और कुशलता से देखभाल की। रवीन्द्रनाथ को गुरुदेव कहने का चलन उन्होंने ही चलाया। यह नाम इतना अधिक प्रचलित हो गया कि तब से शान्तिनिकेतन के छात्रों में वे गुरुदेव के नाम से ही जाने लगे।[1] महात्मा गांधी भी रवीन्द्रनाथ को इसी नाम से सम्बोधित करना पसन्द करते थे।

किन्तु उपाध्याय शान्तिनिकेतन में ज्यादा दिन नहीं रहे। सक्रिय राजनीति में भाग लेने की उनकी अंतः प्रेरणा इतनी प्रबल हो गई कि उन्हें शान्तिनिकेतन का कार्य छोड़ना पड़ा।

शीघ्र ही इस संस्थान ने कुछ और प्रतिभाशाली और आदर्शवादी युवकों को अपनी ओर खींचा, जिन्होंने काफी त्याग करते हुए अपनी सेवाएं अर्पित कीं। उनमें एक थे अजितकुमार चक्रवर्ती जो अंग्रेजी साहित्य और दर्शन में खूब निष्णात थे। वे बाद में, सफल अध्यापक के रूप में ही नहीं बल्कि रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के विश्वसनीय व्याख्याकार के रूप में भी, इस संस्थान के लिए सम्पदा सिद्ध हुए।

अजित चक्रवर्ती ने एक और प्रतिभाशाली युवक सतीशचन्द्र रे का परिचय रवीन्द्रनाथ से कराया। वह बहुत ही गरीब परिवार का था और तब भी बी. ए. की डिग्री परीक्षा देने के योग्य हुआ था। परिवार उससे यह अपेक्षा कर रहा था कि वह परीक्षा पास करे, जिससे कि कोई नौकरी प्राप्त कर वह परिवार की आर्थिक सहायता कर सके। उसका पूर्ववृत्तान्त सुनने पर रवीन्द्रनाथ पहले तो उसका प्रस्ताव स्वीकार करने को तैयार ही नहीं हुए। पर, इस संस्थान की सेवा करने की उसमें इतनी ललक थी कि वह अपने प्रस्ताव पर बहुत जोर देता रहा और रवीन्द्रनाथ को आखिर झुकना पड़ा। अंग्रेजी साहित्य में अपनी गहरी पैठ के कारण सतीशचन्द्र रे भी संस्थान के लिए एक सम्पदा सिद्ध हुए। दुर्भाग्य से तीन वर्ष के भीतर ही वे चेचक के शिकार हो गए।[2]

1. अजितकुमार चक्रवर्ती : ब्रह्मविद्यालय
2. वही

कवि की प्रार्थना पर, उनके मित्र मोहितचन्द्र सेन इस संस्थान के संचालन का भार वहन करने को तैयार हो गए। रवीन्द्रनाथ के लिए उनके मन में इतना प्रेम और आदर था कि शान्तिनिकेतन के स्कूल में काम करने के लिए उन्होंने उच्चतर शिक्षा से सम्बन्धित अपना प्रतिष्ठित पद छोड़ने में भी संकोच नहीं किया, जब कि उन्हें उससे अच्छा वेतन मिलता था। उनकी देखरेख और लगन से यह संस्थान फूला-फला और छात्रों की संख्या बढ़ गई। दुर्भाग्य से, वे बहुत बीमार हो गए और जब ठीक हुए तो उन्होंने संस्थान को छोड़ने का निश्चय कर लिया। परन्तु विदा होने से पहले उन्होंने इस स्कूल को एक हजार रुपये दान दिए जो एक परीक्षक की हैसियत से उनकी कुछ कमाई थी।[1]

इस नये संस्थान के अन्य गण्य-मान्य अध्यापकों में एक जगदानन्द राय थे। ठाकुर परिवार की एक पत्रिका **साधना** में वैज्ञानिक विषयों पर उनके सुविशद निबन्ध निकले थे, जिनसे कवि का ध्यान उनकी ओर गया। रवीन्द्रनाथ ने सियालदह में जागीर के मुख्य कार्यालय में उन्हें नियुक्त कर लिया। बाद में उन्हें शान्तिनिकेतन भेज दिया गया जहां उन्होंने अध्यापक के रूप में और लोकप्रिय वैज्ञानिक पुस्तकों के लेखक के रूप में भी अपना वैशिष्ट्य दिखाया।

---

1. आश्रमेर रूप ओ विकास, 2

8. कष्ट और भटकाव

ऐसा कहा जाता है कि दुर्भाग्य कभी अकेला नहीं आता। रवीन्द्रनाथ के लिए वह पहले उनकी प्रिय पत्नी की मृत्यु के रूप में आया और अपने पीछे अन्य समस्याएं खड़ी कर गया। मृणालिनी देवी ने पांच बच्चे छोड़े थे, दो बेटे और तीन बेटियां। सब से बड़ी थी, माधुरीलता, जिसकी मृणालिनी देवी के आग्रह पर शान्तिनिकेतन आने से ठीक पहले शादी कर दी गई थी। दूसरा बेटा था रथीन्द्रनाथ। तीसरे नम्बर पर थी रेणुका, जिसकी आयु मां की मृत्यु के समय केवल बारह साल थी। परिवार के शान्तिनिकेतन में बसने से पहले उसका भी विवाह कर दिया गया था। परन्तु उसका पति उच्च शिक्षा के लिए अमरीका गया था, इसलिए वह मां-बाप के पास ही रहती थी। चौथे नम्बर पर थी सब से छोटी बेटी मीरा, जिसकी आयु केवल दस साल थी। और सब से छोटा बच्चा शोमिन्द्र था जो मीरा से दो साल छोटा था। इन तीन छोटे बच्चों की देखभाल का अतिरिक्त भार भी अब रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर आ पड़ा।

शीघ्र ही देश में एक उग्र राजनीतिक उथल-पुथल शुरू हो गई, और उसके बाद जो राजनीतिक आन्दोलन चला टैगोर उसके अगले मोर्चे में कूदने से अपने को रोक नहीं सके। जीवन के इस दौर में काफी समय तक वे राजनीतिक कार्य में सक्रिय रूप से जुटे रहे। लेकिन जब उनका भ्रम टूटा तो उन्होंने देखा कि वह आन्दोलन ऐसे नेताओं द्वारा निर्देशित था जिनके विचार उनसे बिलकुल भिन्न थे और जो उसे ऐसे रास्तों पर ले जाना चाहते थे जिन्हें वे गलत समझते थे। आखिर उन्होंने उन लोगों का साथ छोड़ दिया और निराश हो फिर से शिक्षा और साहित्य की गतिविधियों में शरण ली।

उनकी दूसरी बेटी रेणुका को तपेदिक हो गई और उस पर सारा समय और ध्यान जरूरी हो गया। एण्टीबायोटिक औषधियों का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए उन दिनों केवल इसी उपचार की सलाह दी जाती थी कि किसी स्वास्थ्यप्रद जगह पर रहा जाए। अतः रवीन्द्रनाथ ने उसे हजारीबाग ले जाने का निश्चय किया। ऐसा करने से पहले उन्होंने अपने दो सब से छोटे बच्चों का भार अपनी दूसरी भाभी ज्ञानदानन्दिनी देवी को सौंपा। परन्तु, हजारीबाग में रहने से भी रेणुका की हालत में कोई सुधार होता नजर नहीं

आया। तब उन्होंने उसे अल्मोड़ा ले जाने का निश्चय किया जो मध्यवर्ती हिमालय में स्थित है। वहां ज्यादा ऊंचाई होने से बेहतर परिणामों की आशा थी।

यहां रवीन्द्रनाथ को मजबूरन एकाकी रहना पड़ रहा था और उनकी बीमार बच्ची को उपयुक्त मनोरंजन की जरूरत थी। इससे उन्हें काव्य के एक नये क्षेत्र में अपना हाथ आजमाने की प्रेरणा मिली, यानी बच्चों के लिए कविताएं रचना। बहुत पहले उन्होंने परिवार की ओर से शुरू की गई बाल-पत्रिका के लिए कुछ बालोपयोगी कविताएं लिखी थीं। परन्तु, तीन वर्ष के अल्प जीवन के बाद ही जब यह पत्रिका बन्द हो गई तो उन्होंने उस तरह की कविताएं लिखना छोड़ दिया। अब फिर बालोपयोगी कविताएं प्रचुरता से बाहर आने लगीं। इन कविताओं का केन्द्र एक बालक था, जिसकी आंखों से रवीन्द्रनाथ ने उसकी मां-बाप और भाई-बहनवाली छोटी-सी लेकिन दिलचस्प दुनिया को देखने की कोशिश की थी। इस दौर में लिखी गई कविताएं बाद में संकलित कर **शिशु** शीर्षक से प्रकाशित की गईं। बंगला-साहित्य को समृद्ध करने वाला यह बाल-कविताओं का एक अत्यन्त सुन्दर संग्रह है।

कोई तीन महीने वहां रहने के बाद रेणुका की हालत में कुछ सुधार नजर आया, इसलिए उसे जोरासांको के पारिवारिक घर में वापस ले आया गया। पर, दुर्भाग्य से, कुछ समय बाद उसकी हालत अचानक बिगड़ गई और सितम्बर, 1903 में वह चल बसी।

पत्नी की मृत्यु के बाद दस महीने के अन्दर ही यह दूसरा शोक आ गया। और उसके बाद 1904 के अन्त में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता, जो तब 87 वर्ष के थे, सख्त बीमार पड़ गए। वह बीमारी कुछ समय चली और जनवरी, 1905 में उनकी मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु से मानसिक पीड़ा तो होनी ही थी, साथ ही परिवार बहुत-सी ऐसी नई समस्याओं में फंस गया जो परिवार के कर्ता की मृत्यु से खड़ी हो जाती हैं।

अपनी मृत्यु से पहले महर्षि एक वसीयत कर गए थे जिसमें यह व्यवस्था थी कि जोरासांको के उनके मकान के द्विजेन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ और मृत हेमेन्द्रनाथ के बेटे हिस्सेदार होंगे। परिवार के अन्य सदस्यों को आजीवन उस मकान में रहने का अधिकार दिया गया था। जहां तक लगान वाली जागीरों का सवाल था, उन्होंने उत्तर बंगाल की सम्पत्तियां द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ में बांटा। उड़ीसा के कटक जिले की सम्पत्तियां

हेमेन्द्रनाथ के तीन बेटों को दी गई। रवीन्द्रनाथ को जो लगान वाली सम्पत्तियां मिलीं उनकी वार्षिक आय कोई 36,000 रुपये थी। इसके अलावा, वसीयत में परिवार के अन्य आश्रित सदस्यों के निर्वाह और शान्तिनिकेतन की सम्पत्ति तथा जोरासांको के पुश्तैनी मकान से लगे प्रार्थना हाल की रख-रखाव की व्यवस्था थी।[1]

परिवार के सदस्यों का ध्यान काफी समय तक इस वसीयत को अमल में लाने और सब-कुछ फिर से ढंग से बैठाने में ही लगा रहा। रवीन्द्रनाथ को, वसीयत के एक निष्पादक और परिवार के जिम्मेदार सदस्य के नाते, वसीयत के अन्य निष्पादकों यानी अपने भतीजों दीपेन्द्रनाथ और सुरेन्द्रनाथ के लिए हालात आसान करने के लिए इस मामले पर बहुत ध्यान देना पड़ा।

ऐसा लगता है मानो विधाता मृत्यु के हाथों रवीन्द्रनाथ को और भी क्रूर आघात देना चाहते थे। उनका सब से छोटा बेटा सोमिन्द्र शान्तिनिकेतन के आश्रम से संलग्न स्कूल में पढ़ता था। 1907 की पूजा की छुट्टियों में वह कुछ दिनों के लिए अपने सहपाठी सरोजेन्द्र के साथ उसके चाचा के घर मुंगेर गया। वहां उसे हैजा हो गया। उसकी हालत बिगड़ने लगी तो रवीन्द्रनाथ को तार भेजकर तुरन्त बीमार बेटे के पास बुलवाया गया। दुर्भाग्य से डाक्टरी उपचार उसकी जिन्दगी नहीं बचा सका और इस तरह नवम्बर, 1907 में टैगोर उसे खो बैठे।

इस प्रकार पांच साल के अन्दर चार बार रवीन्द्र को शोक सहना पड़ा और जो व्यक्ति उनके सब से निकट और प्रिय थे वे उन्होंने एक-एक कर खो दिए। कोई साधारण आदमी होता तो भाग्य के इन भयंकर आघातों से टूट गया होता। पर, वे इस भयंकर सन्ताप को धैर्य से इसीलिए सहन कर सके कि उनकी शक्ति का स्रोत उनके भीतर था। भगवान की योजनाओं में असंदिग्ध आस्था ने समर्पण की उनकी भावना को मजबूत किया, जिससे वे यह दु:ख शान्त चित्त से सह सके। उनके एक गीत में यह मनोभाव बहुत अच्छी तरह प्रतिबिम्बित है। वह इस प्रकार शुरू होता है :

> "दु:ख के अन्धकार से तुम्हारा दयामय आलोक
> यदि दीप्त होता हो, तो यही हो।
> मृत्यु से तुम्हारा आनन्द का राज्य
> यदि निकट आता हो, तो यही हो।"[2]

---

1. देवेन्द्रनाथ ठाकुर की वसीयत दिनांक 8 सितम्बर, 1899
2. गीतवितान, संख्या 313

इन निर्मम आघातों को यद्यपि वे दृढ़ता से सह गए और उनके व्यवहार में उनकी कोई खास झलक दिखायी नहीं दी, फिर भी सब से छोटे बेटे की मौत ने उनके संवेदनशील हृदय में गहरा घाव किया और उस पर काबू पाने के लिए उन्हें विशेष प्रयत्न करना पड़ा। उसकी मृत्यु के बाद शान्तिनिकेतन जाकर उन्होंने वहां के प्रबन्ध की अस्थायी व्यवस्था की, और फिर एक लम्बे समय के लिए सियालदह चले गए। इस बार उन्होंने शान्तिनिकेतन के वार्षिक पौष मेले में भी भाग नहीं लिया। सियालदह में पूरे पांच महीने रहने के बाद ही उनमें इतना मनोबल आया कि वे शान्तिनिकेतन में फिर से सामान्य जीवन शुरू कर सके।

रवीन्द्रनाथ के जीवन के कष्टों के इस दौर की जटिलता देश की राजनीतिक परिस्थिति के कारण और बढ़ गई। राजनीतिक स्थिति उन दिनों इतनी खराब हो गई थी जितनी कि तथाकथित गदर के पश्चात् भारत में ब्रिटिश सरकार के सत्तारूढ़ हो जाने के बाद से कभी नहीं देखी गई थी। भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल और वाइसराय लार्ड कर्जन के कहने पर, जान-बूझकर, कुछ ऐसी कार्यवाई की गई जिनसे यह उथल-पुथल शुरू हो गई। इसकी पृष्ठ-भूमि के तथ्य इस प्रकार हैं :

ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपना साम्राज्य फैला लिया और उसका सदर मुकाम कलकत्ता था। इतिहास के इन संयोग से बंगाली पाश्चात्य संस्कृति के कसाव को महसूस करने लगे। हमारी जीर्ण, शक्तिहीन, मरणासन्न संस्कृति को जगाने के लिए उसने आवश्यक संक्षोभ- चिकित्सा का काम किया। इससे संक्रांति की एक प्रक्रिया शुरू हो गई, जिसने दोनों संस्कृतियों के मिश्रण से कालान्तर में आधुनिक भारत की नई संस्कृति को जन्म दिया। इस मिश्रण में पुरानी संस्कृति की अच्छी चीजों को कायम रखा गया; और प्रौद्योगिकी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण, जिनसे अपनी भौतिक स्थिति को अपने ही प्रयत्नों से सुधारने की मनुष्य की क्षमता में आस्था जगती है, उधार ले लिए गए।

इस संक्रांति काल में सुप्रतिष्ठित बंगालियों के एक वर्ग ने, विभिन्न क्षेत्रों में प्रगतिशील आन्दोलनों के कर्णधार के रूप में काम किया। उद्देश्य यह था कि पुरानी संस्कृति में जो सड़ा कूड़ा-करकट है पहले वह साफ किया जाए, और फिर उसे प्रगति और कायाकल्प के मार्ग पर बढ़ाया जाए। राममोहन राय ने, जो बहुत से क्षेत्रों में अग्रणी थे, विशेष रूप से सामाजिक सुधार और

धार्मिक आन्दोलन में रुचि ली। इस आन्दोलन से अद्वैतवाद पर आधारित एक नए धर्माचार का जन्म हुआ, जो तत्कालीन शिक्षित भारतीय युवकों के लिए धर्म के रूढ़िवादी रूप की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हो गया।

ईश्वरचंन्द्र विद्यासागर ने, एक सुयोग्य उत्तराधिकारी की तरह, भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। राममोहन जहां लार्ड बैंटिंक को सती-प्रथा खत्म करने के लिए राजी करने में सहायक हुए, वहां विद्यासागर ने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध ठहराने वाला कानून पास करवाया। उन्होंने स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार के लिए भी जबर्दस्त काम किया। साहित्य में भी उनका योगदान कोई कम महत्वपूर्ण नहीं रहा। उन्होंने बंगला में ओजस्वी और परिमार्जित गद्य शैली विकसित की।

उनके चरण-चिह्नों पर चलते हुए, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय बंगला साहित्य के विकास में गम्भीरता से जुट गए और उनके योगदान से उसमें एक गरिमा आई। उनके देशभक्तिपूर्ण उपन्यास **आनन्दमठ** ने, जिसमें शोषण के दौर के बाद एक नए समृद्ध भारत के जन्म की कल्पना थी, असंख्य पाठकों को गद्गद् कर दिया। उससे भारत की धरती देशभक्ति के बीज बोने के लिए तैयार हो गई। इसके तुरन्त बाद ही विवेकानन्द के ओजस्वी उपदेश आए, जिनमें उन्होंने अपने अनुयायियों को जन-कल्याण के कार्य को धर्माचरण के एक अंग की तरह ग्रहण करने की प्रेरणा दी। अज्ञान, जातिवाद और निर्धनता से संघर्ष कर कमजोर और दलित वर्गों की दशा सुधारने के इस आह्वान से तैयारी की यह प्रक्रिया और तेज हो गई।

इस तरह अनुकूल वातावरण तैयार हो जाने पर, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक जबर्दस्त राजनीतिक आन्दोलन छेड़ दिया, जिसका दीर्घकालिक उद्देश्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था। उन्होंने इंडियन नेशनल कांग्रेस के निर्माण में, जो 1886 में अस्तित्व में आ गई थी, सक्रिय भाग लिया। अपने अंग्रेजी दैनिक **बंगाली** द्वारा उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन को तेज करने के लिए निरन्तर प्रचार किया।

इन सब प्रगतिशील आन्दोलनों का केन्द्र कलकत्ता था और इनमें प्रधानता भी बंगालियों की थी जिनमें अब राजनीतिक चेतना आ चुकी थी। राजनीतिक क्षेत्र की इस स्थिति से विदेशी सरकार चिन्ता में पड़ गई, क्योंकि यह उसके साम्राज्यवादी हितों के विरुद्ध काम कर रही थी। अतः, लार्ड कर्जन की सलाह पर, सरकार ने बंगाल को विभाजित करने का फैसला किया। इसके

पीछे, जाहिर है, विचार यह था कि बंगालियों को विभाजित करके उनके नेतृत्व में चलनेवाले राजनीतिक आन्दोलन पर गहरी चोट की जा सकती है। बंगाल तब एक बड़ा प्रान्त था जिसमें बिहार, उड़ीसा और खास बंगाल शामिल थे। विभाजन से पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा मिलकर एक प्रान्त बन गया और उत्तर बंगाल, पूर्व बंगाल और असम के मिलने से दूसरा प्रान्त बन गया। परिणाम यह हुआ कि बंगाली दो समुदायों में बंट गए, जिनमें एक मुख्यतया हिन्दू था और दूसरा, बिलकुल ठीक-ठीक कहें तो पूर्वी भागवाला, मुख्यत: मुस्लिम था; और ये दो समुदाय अलग-अलग प्रशासनों के अधीन रखे गए। यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि यह सब दोनों बंगाली समुदायों में अलगाव की भावना बढ़ाने के इरादे से किया गया था।

तत्कालीन राजनीतिक चिन्तकों को, जिनके नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल और अन्य लोग थे, बंगाल के विभाजन के पीछे छिपे उद्देश्य को भांपने में कठिनाई नहीं हुई। अत: उन्होंने निश्चय किया कि, दोनों बंगालों के पुनरेकीकरण को अन्तिम लक्ष्य रखते हुए, सभी सम्भव उपायों द्वारा विभाजन के विरुद्ध संघर्ष किया जाए। यह विभाजन 16 अक्तूबर, 1905 से अमल में आना था। इसलिए विभाजन-विरोधी आन्दोलन उन्होंने उसी दिन से शुरू करने का निश्चय किया। इस आन्दोलन के दो पहलू थे। पहले में सभाओं, जुलूसों और ब्रिटिश माल के बहिष्कार का कार्यक्रम था। दूसरे में बंगालियों के भावनात्मक एकीकरण से सम्बन्धित कार्य था।

संवेदनशील हृदय और देशभक्ति की गहरी भावनाओं के कारण, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस आन्दोलन में कूदने की अपनी अंत:प्रेरणा को रोक नहीं सके। पारिवारिक परेशानियां और शोक भी उनके इस इरादे में बाधा नहीं डाल सके। रवीन्द्रनाथ ने आन्दोलन के दूसरे भाग, बंगालियों के भावनात्मक एकीकरण को बढ़ाने में रुचि ली। उनके कवि-मन को इस विषय में प्रेरणा का नया स्रोत मिला, और उनकी प्रतिभाशाली लेखनी से देशप्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित व बंगालियों की हार्दिक एकता के प्रतिपादक उत्कृष्ट गीत निकले। इस विषय पर लिखी उनकी बहुत सारी कविताएं देशप्रेम के बंगला गीतों का सर्वश्रेष्ठ संग्रह सिद्ध हुईं। उनमें से कुछ बाद में महात्मा गांधी के प्रिय गीत बन गए और वे उन्हें अपनी प्रार्थना-सभाओं में नियम से गाया करते थे।

विभाजन के लिए निर्धारित दिन के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो कार्यक्रम बनाया उसमें इतनी गहरी भावनात्मक अपील थी कि वह बंगालियों के लिए एक

धार्मिक अनुष्ठान बन गया, जो कुछ हद तक अभी भी जीवित है। कार्यक्रम में यह अनुरोध था कि विभाजन के दिन को बंगाली शोक दिवस के रूप में मनाएं और इसलिए बंगाली घरों में उस दिन खाना नहीं पकना चाहिए। हर देशभक्त बंगाली को उस दिन प्रातः पहले भागीरथी में स्नान करना चाहिए और फिर बंगाली भाइयों के हाथ में राखी बांधनी चाहिए। यह इस बात की द्योतक थी कि ईश्वर के विधान से जो लोग भाइयों और बहनों के रूप में जन्मे हैं उन्हें एक विदेशी राजनीतिक सत्ता की द्वेषपूर्ण कार्यवाही एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकती। इस अवसर के लिए रवीन्द्रनाथ ने एक विशेष गीत रचा जिसका अन्त इस टेक से होता था :

"हे प्रभो, सभी बंगाली घरों के सभी
भाई-बहन हृदय से एक हो जाएं।"

स्वयं रवीन्द्रनाथ और उनके साथ की टोली ने यह कार्यक्रम किस तरह पूरा किया, इसका हमारे पास रोचक विवरण है। वह उनके प्रतिभाशाली भतीजे, सुप्रसिद्ध चित्रकार अवनीन्द्रनाथ द्वारा अंकित किया गया है। इस विवरण से रवीन्द्रनाथ के चरित्र के कुछ अनाविष्कृत पहलुओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

रवीन्द्रनाथ अपनी टोली के साथ अपने पुश्तैनी मकान के पास ही बहनेवाली नदी पर गए। वहां स्नान करने के बाद वे लोग, एक जुलूस की शक्ल में, इस अवसर के लिए रवीन्द्रनाथ द्वारा विशेष रूप से रचित गीत गाते हुए और रास्ते में मिलनेवाले हर बंगाली के हाथ में राखी बांधते हुए, शहर की सड़कों पर से गुजरे। जिन सड़कों से यह जुलूस गुजरा उनके दोनों तरफ लोगों की कई-कई कतारें खचाखच भरी हुई थीं। घरों की छतों और सड़क की ओर खुलनेवाले छज्जों पर से स्त्रियों ने शंख बजाकर और जुलूस के लोगों पर खीलें बरसा कर उनके ध्येय के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की।

लोगों के हाथ में राखी बांधने का रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जोश इतना बढ़ गया उन्होंने उसे हद पर पहुंचाने का निश्चय कर लिया। उनके घर को जानेवाली मुख्य सड़क पर आगे चलकर दक्षिण में एक मस्जिद थी। उन्होंने अपने जुलूस को उधर ले जाने और वहां मिलनेवाले मौलवियों के हाथ में राखी बांधने का निश्चय किया। इस जुलूस में उनके साथ अन्य लोगों के अलावा उनके भतीजे अवनीन्द्रनाथ और सुरेन्द्रनाथ भी थे, जिनमें दूसरा सत्येन्द्रनाथ का पुत्र था। लेकिन अवनीन्द्रनाथ को इस कदम में खतरा नजर आया। उसे भय था कि मस्जिद के लोग रवीन्द्रनाथ की इस कार्यवाई की शायद कद्र न करें, वे बुरा मान

सकते हैं और झगड़ा शुरू कर सकते हैं। इसलिए, पलायन को ही वीरता मान, वह जुलूस से अलग हो गया। परन्तु रवीन्द्रनाथ मस्जिद के अन्दर गए और वहां जो लोग मिले उनको उन्होंने राखी बांधी। किसी ने भी बुरा नहीं माना और जुलूस शान्तिपूर्वक समाप्त हो गया।[1]

आन्दोलन छिड़ने पर सरकार ने उसपर यथासम्भव प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से एक परिपत्र द्वारा सभी शिक्षा-संस्थानों को यह आदेश दिया गया कि छात्रों को इस आंदोलन में भाग लेने से रोका जाए। आन्दोलन के नेताओं ने सरकार के इस आदेश का विरोध करने के लिए एक सार्वजनिक सभा आयोजित की। उन्होंने ऐसे कदम उठाने का भी निश्चय किया जिनसे शिक्षा-संस्थान सरकार के नियन्त्रण से अलग रहें। इस निश्चय को कार्यान्वित करने की कोशिशों के बहुत ही महत्वपूर्ण परिणाम निकले। पहले कदम के तौर पर, यह फैसला किया गया कि राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् (द नेशनल कौंसिल आफ एजूकेशन) स्थापित की जाए। इस कार्य के लिए इतना चन्दा मिला कि 15 अगस्त, 1906 को परिषद् का उद्घाटन सम्भव हो गया। श्री अरविंद ने इस नये संस्थान का पहला प्रिंसिपल बनने के लिए बड़ौदा का अपना काम छोड़ दिया। यही संस्थान बढ़कर बाद में यादवपुर विश्वविद्यालय हुआ, और स्वाधीनता के बाद अभियांत्रिकी और प्रोद्योगिकी का विशिष्ट संस्थान बन गया है।[2]

आन्दोलन के अगले मोर्चे पर होने के कारण, रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इस संस्थान से जुड़ गए। इसकी शिक्षा-नीति गढ़ने और इसके लिए पाठ्यक्रम तैयार करने में उनका हाथ था। संस्थान के बंगला भाषा और साहित्य विभाग के संचालन का काम भी उन्हें सौंपा गया।

परन्तु विभाजन-विरोधी आन्दोलन के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सम्बन्ध ज्यादा दिन नहीं चला। शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि वह स्थिति आ गई है जब उनके और उनके सहयोगियों के रास्ते अलग हो जाते हैं। आन्दोलन शीघ्र ही स्कूलों के बहिष्कार जैसे तरीकों की ओर मोड़ दिया गया था जो, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार, अशिक्षा की ओर ले जानेवाला नकारात्मक त्याग था। ब्रिटिश माल के बहिष्कार का कार्यक्रम भी, उनके विचार से, नकारात्मक कार्यवाई थी। देशी उद्योगों के विकास का कार्यक्रम उसकी अपेक्षा कहीं अधिक

1. अवनीन्द्रनाथ, : गवे
2. प्रभात कुमार मुखोपाध्याय : रवीन्द्र जीवनी

सकारात्मक कार्यवाई होती। अन्त में, शान्तिनिकेतन के शान्त वातावरण में शिक्षाविद् का अपना काम फिर से सम्भालने के लिए उन्हें आन्दोलन से नाता तोड़ना पड़ा।

विदेशी शासकों के राजनीतिक अन्याय के दारुण कृत्य की जो प्रतिक्रियाएं होती हैं और उसका विरोध जो रूप ले लेता है, उनके प्रति अपने रुख की एक झलक रवीन्द्रनाथ स्वयं देते हैं। 1920 में सी. एफ. एण्ड्रूज को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं :

"स्वदेशी और स्वराजवाद आम तौर पर हमारे देशवासियों के मन में तीव्र उत्तेजना पैदा करते हैं, क्योंकि उन पर पूरी तरह हावी रोष के आवेग का कुछ उत्ताप वे अपने में लिए होते हैं। इस ताप और आन्दोलन से मैं अछूता हूं, यह नहीं कहा जा सकता। पर, जैसे भी हो, अपने कवि-स्वभाव के कारण, मैं इन उद्देश्यों को अन्तिम मानने में असमर्थ हूं। ये हमसे अपने हक से बहुत अधिक का दावा करते हैं। एक खास बिंदु पर पहुंचने के बाद मुझे लगता है कि अपने ही लोगों से, जिनके साथ मैं काम करता रहा हूं, अलग होने को मैं बाध्य हूं।"[1]

आत्म-निरीक्षणपरक इस वक्तव्य से उनके बाद के आचरण को समझने के लिए भी एक सूत्र मिलता है। इस शताब्दी के पहले दशक के अंतिम वर्षों में राजनीतिक आन्दोलन से नाता तोड़ लेने के बाद, रवीन्द्रनाथ का समय उनकी दो रुचियों में बंट गया—साहित्यिक गतिविधियां और शान्तिनिकेतन का शिक्षा-संस्थान। राजनीतिक धारा से वे बहुत-कुछ अछूते ही रहे। परन्तु जलियांवाला बाग के नर-संहार और उसके बाद की घटनाओं ने जब उन्हें हिला दिया तो उन्होंने अपना मौन तोड़ा और विरोध प्रदर्शित किया। जिन घटनाओं से वह स्थिति पैदा हुई, आइए हम उनपर एक नजर डाल लें।

पहले विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की थी कि वह, एक क्रमशः विकासशील कार्यक्रम द्वारा, भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता बहाल कर देगी। युद्ध की समाप्ति के बाद भी उस घोषणा को अमल में लाने वाली किसी सुनिश्चित कार्यवाही का जब कोई संकेत नहीं मिला तो लोग बेचैन होकर एक आन्दोलन छेड़ने को तैयार हो गए। संकट की आशंका पाकर साम्राज्य-सरकार ने सेंट्रल कौंसिल में एक विधेयक रखा, जो सरकार को लोगों को बिना मुकदमा चलाये नजरबंद करने का अधिकार देता था।

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर: प्रान द एजिस ग्राफ टाइम, द स्वदेशी मूवमेंट

वह रोलेट बिल के नाम से कुख्यात हुआ। इस बीच महात्मा गांधी भारतीय राजनीति में आ गए थे। उनके नेतृत्व में उस कानून के विरुद्ध एक जबर्दस्त आन्दोलन छेड़ दिया गया। गांधीजी ने उस कानून के खिलाफ देशव्यापी हड़ताल करने के लिए 30 मार्च, 1919 का दिन नियत किया (बाद में वह बदल कर 6 अप्रैल कर दिया गया)। सरकार की दमनकारी कार्यवाई के कारण पंजाब में उसने एक उग्र रूप ले लिया। 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर शहर में तथा पंजाब में अन्यत्र हुई हत्याओं और दमनकारी कार्यवाई के विरुद्ध एक सभा आयोजित की गई। जलियांवाला बाग में, जो प्रायः सभी ओर से ऊंची दीवारों से घिरा एक खुला स्थान था और जिसका रास्ता एक संकरी गली में से था, हजारों निःशस्त्र लोग विरोध-सभा में भाग लेने के लिए एकत्रित हुए। किसी नृशंस प्रोत्तेजना के वशीभूत हो, डायर नाम के एक ब्रिटिश जनरल ने पहले तो उस स्थान का रास्ता सशस्त्र सैनिक खड़े कर बंद कर दिया, और फिर वहां एकत्रित लोगों पर गोलियों की बौछार शुरु कर दी। बच निकलने का कोई रास्ता न होने से, लोग गोलीबारी से निर्दयता-पूर्वक भून दिए गए। मरनेवालों की संख्या ही 379 थी और जो घायल हुए वे तो इससे कई-गुना थे।

निर्दोष लोगों के इस संहार का समाचार जब शान्तिनिकेतन पहुंचा तो रवीन्द्रनाथ को उससे गहरा धक्का लगा। कुछ करना जरूरी है यह महसूस कर वे कलकत्ता आए। व्यक्तिगत रूप से अपना विरोध प्रकट करने के लिए उन्होंने 'सर' की अपनी उपाधि, जो 1916 में उन्हें सम्राट द्वारा प्रदान की गई थी, लौटा देने का निश्चय कर लिया। 29 मई, 1919 को अपने इस निश्चय की सूचना देते हुए उन्होंने वाइसराय को जो पत्र लिखा उसने एक विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शह और मूक अनुमति से की गई नृशंसता की निंदा उसमें उच्च नैतिक स्वर में की गई थी, जिससे उसका घिनौना रूप सारी दुनिया के आगे नंगा हो जाता था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने पत्र में कहा था : "पंजाब की सरकार ने कुछ स्थानीय हलचलों को कुचलने के लिए जो कार्यवाई की है, उनकी भीषणता ने एक जबर्दस्त आघात कर हमारे दिमाग में यह चीज साफ कर दी है कि ब्रिटिश प्रजा के हैसियत से भारत में हम लोग बिलकुल लाचार हैं। अभागे लोगों को जो बेहद कठोर दण्ड दिया गया और उसके लिए जो तरीके अपनाए गए वे, हमें विश्वास है, ऐसे हैं कि, कुछ प्रसिद्ध अपवादों को छोड़, पुरानी या हाल की

सभ्य सरकारों के इतिहास में उनका कोई उदाहरण नहीं मिलता। इस तरह का व्यवहार उन लोगों के साथ किया गया है जो निरस्त्र और साधनहीन हैं, और ऐसी शक्ति द्वारा किया गया है जिसके पास मानव जीवन के संहार के लिए सर्वाधिक कुशल आंतककारी संगठन मौजूद है। इसलिए हमारा यह पुरजोर दावा है कि यह व्यवहार, नैतिक औचित्य की तो बात छोड़िए, राजनीतिक रूप से भी कार्यसाधक नहीं हो सकता।''

वाइसराय से यह अनुरोध करते हुए कि उन्हें उनकी 'सर' की उपाधि से मुक्त कर दिया जाए, उन्होंने आगे कहा था : ''अब वह समय आ गया है जब सम्मान के बिल्ले, अपमान और दमन के बेतुके संदर्भ में, हमारी लज्जा को और उजागर करते हैं। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं सभी विशिष्ट प्रतिष्ठा-चिह्नों को त्याग अपने उन देशवासियों की कतार में खड़ा होना चाहता हूं जिन्हें अपनी तथाकथित नगण्यता के कारण अमानवीय तिरस्कार भोगना पड़ता है।''

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के राजनीतिक गतिविधि से अलग हो जाने के विषय पर फिर से लौटते हुए, उनकी इस कार्यवाही का कारण शायद उनके स्वाधीनता-सम्बन्धी व्यक्तिगत विचारों में ढूंढ़ा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने अपने विचार 1904 में ही स्वदेशी समाज के अपने सिद्धान्त में व्यक्त कर दिए थे।

देश के इतिहास के अध्ययन के बाद उन्होंने यह पाया कि राजनीतिक व्यवस्था के परिवर्तनों का या विदेशी शक्तियों के आक्रमण का भारतीय संस्कृति और लोगों के भौतिक कल्याण के कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनके अनुसार, इसका कारण यह तथ्य था कि सत्ताधारी शासकों की रुचि अपने खुद के कल्याण में ही ज्यादा थी। इसीलिए उन्होंने प्रजा के कल्याण की ओर कतई ध्यान नहीं दिया, और उसकी संस्कृति में भी हस्तक्षेप नहीं किया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोगों के कल्याण की फिक्र का काम समाज के सिर आ पड़ा, और वह इस प्रक्रिया में सत्ता का एक दूसरा केन्द्र बन गया। इस कार्य-विभाजन के ही कारण, भारत समाज-कल्याण के कामों की एक व्यवस्था लगातार कायम रख सका और, राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद, अपनी संस्कृति की रक्षा कर सका।

इसके विपरीत, पश्चिम में एक ऐसी व्यवस्था पनपी जिसमें राज्य ने राजनीतिक कार्यों के अलावा कल्याणकारी कार्य भी संभाले। वे इस पक्ष में नहीं थे कि यह नई व्यवस्था पश्चिम से उधार लेकर हमारी धरती में रोपी

जाए। उनका यह विश्वास था कि इस तथ्य के बावजूद कि एक विदेशी शक्ति इस देश पर शासन कर रही है, हम अपनी प्राचीन व्यवस्था के अन्तर्गत कल्याण के कार्यों को आगे बढ़ा सकते हैं।

अपने सिद्धान्त के जोश में, रवीन्द्रनाथ ने सार्वजनिक सभाओं द्वारा इसके प्रचार की कोशिश की। उन्होंने एक ठोस योजना तक तैयार कर ली। उनका विचार था कि समाज का एक केंद्रीय निकाय स्थापित किया जाए जिसका निर्वाचित नेता **समाजपति** कहलाए। उसके नेतृत्व में यह संगठन शिक्षा, कृषि, न्याय, लोक स्वास्थ्य तथा देशी उद्योग जैसे कार्य सम्भाले। ये योजनाएं ऐसे स्थानीय अभिकरणों द्वारा कार्यान्वित की जाएं जो प्राचीन ग्राम पंचायतों को पुनर्जीवित कर स्थापित किए गए हों।[1]

रवीन्द्रनाथ ने जो कार्यक्रम तैयार करके लोगों की सम्पति जानने के लिए बितरित किया, उसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, हस्तशिल्प, व्यापार, न्याय-व्यवस्था, सम्यक् सामाजिक आचार का प्रवर्तन और साहित्य-संवर्धन जैसे विषय तक शामिल थे। एक दिलचस्प चीज यह थी कि उसमें पश्चिमी वेश-भूषा और रहन-सहन के ढंगों से बचने और पश्चिम की चीजों को न खरीदने का आदेश था। इस कार्यक्रम के लिए धन, दान तथा कल्याणकारी कार्य के लिए लगाए गए कर से आना था। बंगाल के देहाती इलाकों में इस तरह के कर की व्यवस्था प्रचलित है और वह **ईश्वरवृत्ति** कहलाती है।

इस कार्यक्रम पर दो सार्वजनिक सभाओं में विचार-विमर्श हुआ। पहली सभा बंगला संवत् 7 श्रावण, 1311, अर्थात् जुलाई, 1906 में आयोजित की गई। रमेशचन्द्र दत्त उसके सभापति थे और अन्य लोगों के अलावा प्रख्यात न्यायविद् गुरुदास बनर्जी ने भी उसमें भाग लिया। दूसरी सभा इसके सात दिन बाद हुई। उसके सभापति सुप्रतिष्ठित दार्शनिक हीरेन्द्रनाथ दत्त थे और उसमें अन्य लोगों के अलावा विपिनचन्द्र पाल ने भी भाग लिया। कलकत्ता के इन गण्य-मान्य नागरिकों ने स्वयं को वचनवद्ध किये बिना, उनके विचारों का कुल मिलाकर स्वागत किया।

परन्तु नेताओं का प्रमुख वर्ग मूलतः भिन्न विचार रखता था। उनका यह विश्वास था कि विदेशी शासकों के हाथ से राजनीतिक सत्ता छीने बिना देश के कल्याण का कार्य कारगर ढंग से नहीं किया जा सकता। रवीन्द्रनाथ यह

---

1. आत्मशक्ति ओ समवाय, अवस्था ओ व्यवस्था

मानते थे कि राजनीतिक स्वाधीनता के बिना भी सच्ची सामाजिक तथा भौतिक स्वाधीनता सम्भव है। हो सकता है वे स्वप्नदर्शी रहे हों या उनको इस आशा में कि जो अतीत में सम्भव हुआ वह वर्तमान युग में भी सम्भव होगा, कुछ खुशफहमी रही हो। जो भी हो, उन्होंने अनुभव किया कि वे अकेले रहे गए हैं।

9. आत्मदर्शन

रवीन्द्रनाथ में बचपन में अपने पिता और भाइयों के कारण धार्मिकता की एक भावना आ गई थी, क्योंकि उनका परिवार धार्मिक वातावरण से ओतप्रोत था। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ एक नए धर्म के संस्थापक थे जो अद्वैत के सांचे में ढला था, और उन्हें इस बात का पूरा ख्याल रहता था कि उनके बच्चों में इस नए धर्म की भावना का संस्कार आए। वे जिन दिनों घर पर होते तो परिवार के लोगों को घर के प्राथर्न हाल में एकत्रित कर स्वयं प्रार्थनाएं कराते, जिनका अन्त उपयुक्त प्रवचन से होता।

कालांतर में रवीन्द्रनाथ को पिता द्वारा स्थापित इस धर्म से प्रेम हो गया। प्रार्थनाओं में गाने के लिए वे भजन रचने लगे, जिन्हें उनके समाज द्वारा जारी की जानेवाली भजनावलियों में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा। एक बार एक विशेष भजन पर मुग्ध हो, पिता ने रवीन्द्रनाथ को एक बड़ी रकम पुरस्कार में देकर अपनी सराहना प्रकट की।

परन्तु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर धर्म के मामले में हृदय से लकीर के फकीर नहीं थे। इसलिए शीघ्र ही इस तरह के संस्थात्मक धर्म में उनकी रुचि खत्म होने लगी। उनके विचार से, इस तरह के धर्म द्वारा निर्धारित आचार और प्रचारित विचार सामान्य कोटि के लोगों को ध्यान में रखकर गढ़े होते हैं। इसीलिए वे सत्य को उसके गतिहीन न्यूनतम रूप तक ही सीमित रखते हैं। वे उस असाधारण कोटि के व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं होते जो धर्मनिष्ठा की अपनी चेतना को स्वतंत्र अन्वेषण द्वारा सन्तुष्ट करने की जोखिम उठाता है। अतः रवीन्द्रनाथ संगठित धर्म के साथ अपने सम्बन्धों से तालमेल नहीं बिठा सके, क्योंकि वह आत्मदर्शन में बाधा डालता था और इस तरह 'सत्य के जीवन्त रूप' तक पहुंचने नहीं देता था। इसलिए वे संबंध उन्होंने तोड़ दिए।[1]

हृदय के अनुरूप धर्म की अपनी खोज में खुली राह अपनाने पर टैगोर को अधिकतर अपने स्वभाव और मन की संरचना से ही मार्गदर्शन मिला।

---

1. रिलीजन आफ मैन, द मैन आफ माइ हार्ट

अपने लक्ष्य की ओर जानेवाली राह के लिए वे बुद्धि से अधिक भावनाओं पर भरोसा करते थे। वे कहते हैं:

> "ध्यान में अकेले अनन्त का आनन्द लेते रहने से अब मुझे सन्तोष नहीं होता था, और अपनी मूक आराधना के लिए मैं शास्त्र के जिन वचनों का उपयोग करता था उनकी प्रेरणा अनजाने ही समाप्त हो गई। मुझे विश्वास है कि धुंधले तौर पर मैं यह महसूस कर रहा था कि मुझे जरूरत आत्मदर्शन की है।"[1]

रवीन्द्रनाथ के धार्मिक अनुभव और कम उम्र से ही धार्मिक अभिव्यक्ति के उपयुक्त रूप की उनकी तलाश का एक लम्बा इतिहास है, जिसका अध्ययन काफी मनोरंजक है। तरह-तरह के अनुभवों में से गुजरते हुए उनके मन में उनका अपना धर्म पनपा। इन अनुभवों की झलक उनके लेखन में—कविता और निबंधों दोनों में—तथा उनके भाषणों में मिलती है। ये धार्मिक अनुभव विकास की जिन विभिन्न अवस्थाओं में से होते हुए परिपक्वावस्था तक पहुंचे, उनका पता उनकी अभिव्यक्तियों से लगता है। इसी विशेषता के कारण उनकी रचनाएं प्रेरणा की संगीत में से फूटती हैं और विश्वव्यापी अनन्त के साथ मिलन का रूप क्या हो, यह तलाश इस तरह की संगति प्रदान करती है। उनके अनुसार मनुष्य के मन में, सीमित में विद्यमान जो असीम है यह उसके साथ संयोग की तलाश है।[2]

रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि तलाश "कवि का धर्म खोजने के लिए है, कट्टर धर्मात्मा या धर्मतत्त्वज्ञ का धर्म खोजने के लिए नहीं।"[3] आत्मदर्शन और कविता दोनों के लिए प्रेरणा क्योंकि एक ही थी, इसलिए जीवन-भर की खोज के बाद उन्होंने जो पाया वह वस्तुतः कवि का धर्म था। संयोग से यह हमारे लिए एक अनोखा उदाहरण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर में साहित्यिक कलाकार और धर्मनिष्ठ व्यक्ति दोनों, संयुक्त रूप से एक खोज में लगे हैं। आत्मदर्शन की तलाश में उनका हृदय जो कुछ अनुभव करता था, उनके भीतर का कलाकार उसे काव्य द्वारा अभिव्यक्ति देता था। अपने

1. रिलिजन ग्राफ मैन, "द टीचर"
2. प्रस्तावना
3. न बिजब

दो जीवनों के--यदि ऐसा कहा जा सके--इस घनिष्ठ सहयोग को रवीन्द्रनाथ ने, काव्य की भाषा में, तालमेल और संगति से रहने वाले दो भिन्न अस्तित्वों का विवाहित जीवन बताया है। उनके जीवन के ये दो अंश एक समानान्तर मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, यह तथ्य स्वयं रवीन्द्रनाथ को बहुत काल तक पता नहीं चला। इस काल को वे, फिर काव्य की भाषा में, उनका सगाई काल कहते हैं। वे लिखते हैं :

> "इसका (अपने धर्म का) स्पर्श मुझे उसी अदृश्य और अचीन्हे से होता है जिससे कि अपने गीतों की प्रेरणा मिलती है। मेरे धार्मिक जीवन ने विकास की वही रहस्यमय राह पकड़ी है जो मेरे कवि-जीवन की रही है। किसी न किसी मार्ग से होता है जिससे कि अपने गीतों की प्रेरणा मिलती है। उनकी सगाई बहुत अरसे रही, पर मुझे उसका पता नहीं चला।"[1]

धर्म और काव्य दोनों के लिए वास्तव में उन्हें एक ही विषय से प्रेरणा मिली। इस से उनके कांव्य में दो दुर्लभ गुण आ गए। पहला यह कि उसमें गतिशीलता है, उसका एक इतिहास है और वह विभिन्न अवस्थाओं में से होता हुआ परिपक्कावस्था तक पहुंचा है। ये उस श्रेणी की कविताएं नहीं हैं जिनमें कवि का सौंदर्य के आकर्षण के प्रति संवेदनशील मन, जीवन-पथ पर बिखरे सौंदर्य से पुलकित होकर अपनी भावना को अभि-व्यक्ति देता है। वैसी स्थिति में कवि की विभिन्न रचनाओं में कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में, उनकी शुरू की रचनाओं से ही, निरन्तर विकास देखा जा सकता है। हर विशेष दौर में एक प्रमुख विचार उनके मन पर हावी रहता है जो उनकी लेखनी से अभिव्यक्ति चाहता है। यह विचार विकास की एक मंजिल से गुजरता है और फिर धीरे-धीरे उसका स्वरूप बदलता है और इस तरह वह, पहले के मनोभाव से अपना सिलसिला तोड़े बिना, विकास के नये दौर के लिए जमीन तैयार करता है। इस प्रकार यह क्रमिक विकास की एक प्रक्रिया है, जिसमें विचार जैसे-जैसे परिपक्कावस्था की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे और जटिल होता जाता है।

1. रिलिजन श्राफ मैन, द विजन

उनके काव्य का मुख्य विषय इस तरह, उनकी विभिन्न कविताओं के गौण विषयों से अंग की तरह जुड़ जाता है और हर चीज मिलकर एक सामंजस्य-पूर्ण स्वरूप (पेटर्न) बनती है। इस प्रकार, 'प्रेरणा की संगति', जीवन के विभिन्न दौरों में रची गयी उनकी कविताओं को परस्पर जोड़ देती है। शायद इसी कारण जीवन के अन्तिम दिनों तक फैले उनके लम्बे सृजन-काल में उनकी कविताएं सदा मोहक बनी रहीं।

दूसरा गुण सामान्य विषय से उनके काव्य में यह आया कि वह उनके धार्मिक अनुभव का अभिलेख बन गया। अतः, अपने परिपक्व रूप में यह, इस विषय में उनके विचारों का चित्र प्रस्तुत करता है कि धर्म क्या होना चाहिए। यहां, अन्ततः, एक विशेष प्रकार का मानववाद आकार लेता है, जिसका प्रेरणा-स्रोत उनकी धर्मनिष्ठा है। उनके मन की आध्यात्मिक गठन को समझने के लिए उनके काव्य का अध्ययन एक कुंजी है। इसीलिए, इस अध्याय में, उन्हें उनके काव्य के माध्यम से समझने की कोशिश की गई है।

धर्म की उनकी खोज प्रकृति से आरम्भ हुई, जिससे कि उन्हें सब से पहले प्रेम हुआ। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि बचपन में भी उनके संवेदनशील मन में, प्रकृति की जबर्दस्त प्रतिक्रिया होती थी। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनमें आत्मदर्शन का सूत्रपात प्रकृति के हाथों ही हुआ—प्रकृति ज्ञान का विषय है—इस रूप में नहीं, बल्कि उसके उस स्वरूप द्वारा जो रूपों, रंगों, ध्वनियों और गतियों के सामंजस्य से कल्पना को उत्तेजित करता है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अपना कवि जीवन प्रकृति के कवि के रूप में आरम्भ किया। वे स्वयं कहते हैं कि मेरा प्रथम आत्म-साक्षात्कार प्रकृति के साथ अंतरंगता की मेरी अनुभूति से हुआ।[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में उस रोमांच की धड़कन है जो उन्होंने उसकी विभिन्न भावावस्थाओं में अनुभव की। परन्तु, उनमें प्रकृति के अद्भुत और सुन्दर पक्ष से जागृत भावना का मात्र प्रभावशाली चित्रण नहीं है। वे उसके पीछे छिपी सत्ता के बारे में प्रश्न उठाती हैं, और बाद में तो उसके साथ भौतिक सम्पर्क की तीव्र लालसा तक प्रकट करती हैं।

1. रिलिजन ग्राफ मैन "मैन्स युनिवर्स"

उदाहरण के लिए, नील गगन में तैरते शरद के बादल नीचे धान की खेतों पर अपनी छाया डाल रहे हैं। प्रकृति के इस सौन्दर्य को अपनी एक कविता में चित्रित करते हुए उन्हें उस सूत्रधार की याद आती है जिसका हाथ पीछे से इस खेल का संचालन कर रहा है, और वे कहते हैं:

"धान के खेतों पर भागतीं धूप और छाया
आज आंख-मिचौनी का खेल खेल रही हैं।
नील गगन में श्वेत मेघों के ये बेड़े
जिसने बहाए, वह कौन है?"[1]

बाद में हम देखते हैं कि पीछे छिपे उस हाथ के बारे में मात्र जिज्ञासा से ही रवीन्द्रनाथ को सन्तोष नहीं हुआ। जिस शक्ति की उपस्थिति दिखाई नहीं देती पर महसूस होती है, उसके साथ सम्पर्क की लालसा भी उनमें विकसित हो गई। यहां एक उदाहरण है:

वर्षा के आगमन पर आकाश में घिरते बादलों के रंगों से रोमांचित हो, वे उसकी तुलना मोर के फैले पंखों की बहुरंगी छटा से करते हैं। इस कविता में बरसाती बादलों के सौंदर्य से जागृत उल्लास और आकाश में उपस्थित अदृश्य के साथ सम्पर्क की तीव्र लालसा से उत्पन्न वेदना की मिलीजुली भावना का चित्रण है। कविता के पहले पद का अनुवाद इस प्रकार है:

"मेरा मन आज मोर की तरह नाच रहा है।
सैकड़ों रंगों से झिलमिल भावना का ज्वार
मोर के पंखों की तरह फैल रहा है।
और आकाश की ओर उल्लास से दृष्टि उठा
लालायित हृदय से किसी को ढूंढ रहा है।"[2]

धीरे-धीरे, अनेक अनुभवों द्वारा, प्रकृति के विभिन्न रूपों के पीछे महसूस होनेवाले अदृश्य का वास्तविक स्वरूप उनके आगे स्पष्ट हुआ। जैसा कि वे कहते हैं, अपने वैदिक पूर्वजों की तरह, वे यह अनुभव करने लगे कि प्रकृति के विभिन्न रूपों के पीछे कोई एक व्यापक तत्त्व काम कर रहा है। इस प्रकार प्रकृति की विभिन्न छवियों में उन्होंने एक ही अन्तर्यामी की

1. शरदोत्सव
2. क्षणिका

अभिव्यक्ति देखी। उनके अपने शब्दों में, "जल से भरे बादलों के एक साथ घिर आने का कौतुक, नारियल के पेड़ों को प्रचण्ड वेग से झकझोरते तूफान के आकस्मिक झपाटे, गर्मियों की दुपहरी का भयानक सूनापन और शरद् में प्रातः ओस के आवरण में से उभरता शांत सूर्योदय मेरे मन को अपने साहचर्य की घनिष्ठता से व्याप्त रखते थे।"[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह अनुभव कि प्रकृति के पीछे काम करने वाला अदृश्य तत्त्व केवल पृथ्वी पर जीवन के क्रम को ही नियंत्रित नहीं करता, बल्कि आकाश के ग्रह-नक्षत्रों आदि की गतियों का भी नियामक है। उसकी उपस्थिति इतनी दिखाई नहीं देती जितनी कि महसूस की जाती है, यह बात भारतीय ग्राम्य जीवन की एक सुन्दर उपमा द्वारा स्पष्ट की गई है। यह एक आम दृश्य है कि गांव की गोचर भूमि में गऊएं चुपचाप कायदे से चरती रहती हैं, जबकि चरवाहा उनके बीच दिखाई नहीं देता। पर उसकी उपस्थिति किसी छायादार कोने से आती उसकी बांसुरी की आवाज से महसूस होती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की तुलना गऊओं से और अदृश्य तत्त्व की तुलना में चरवाहे से करते हैं, और कहते हैं:

"सूर्यों और तारों के ये समूह
तुम्हारी चमकीली गाएं हैं।
किस छिपे कोने से तुम
अपनी बांसुरी बजा रहे हो और
आकाश-मण्डल में उन्हें चरा रहे हो?"[2]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों ने, बाद में, विश्व की एक सर्वेश्वरवादी धारणा का रूप लिया। इस दृष्टिकोण से, सृष्टि में सन्निहित रूप से काम कर रहा है। उन्हें लगा कि प्रकृति में सर्वत्र एक ही तत्त्व काम कर रहा है; और विभिन्न शक्तियों की बाहर से परस्पर-विरोधी लगनेवाली खींचतान के बावजूद, वह उसे एकता और तालमेल दे रहा है। इसमें कुछ भी स्थिर नहीं है; जन्म और मृत्यु, विनाश और सृजन उसके अजस्र और चिरन्तन नृत्य की लय-ताल हैं। इस प्रकार प्रकृति में उन्हें अवैयक्तिक रूप से काम करने वाला एक विश्वदेव ईश्वर मिला। उसकी तुलना वे कभी बहती नदी

---

1. रिलिजन आफ मैन "द विजन"
2. गीताली

से तो कभी सृजन और विनाश का विश्वनृत्य करते नटराज शिव से करते हैं। नीचे के उद्धरण में अपने अनुमानों का सार उन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है:

"ईश्वर हमसे दूर, मन्दिरों में नहीं है। वह हमारे भीतर है। वह अदृश्य रूप से जीवन और मृत्यु, आनन्द और पीड़ा, पाप और पुण्य, मिलन और वियोग में व्याप्त है। यह पृथ्वी स्वयं उसका चिरन्तन मन्दिर है। इस जीवन्त, सचेत, विराट मन्दिर की निरन्तर तरह-तरह के नये आकारों में पुनर्रचना हो रही है। इसमें नया कुछ नहीं है, इसमें हर चीज निरन्तर परिवर्तनशील है। फिर भी इसकी गहरी एकता, इसकी वास्तविकता और इसके नित्य स्वरूप का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि इस बहती विविधता में एक ध्रुव सत्य व्यक्त है।"[1]

परन्तु यह सर्वेश्वरवादी धारणा उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकी। उनकी बुद्धि को हो सकता है उससे कुछ सन्तोष मिला हो, पर वे उस सर्वव्यापी शक्ति के साथ भावनात्मक स्तर पर और भी गहरे सम्पर्क के लिए लालायित थे।

यह चीज आसानी से समझी जा सकती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भावनात्मक क्षमता क्योंकि अत्यन्त विकसित थी, इस लिए वो किसी ऐसी धारणा से जिसमें ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की गुंजाइश न हो, सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे। वे ईश्वर के साथ प्रेम का आदान-प्रदान करना चाहते थे, परन्तु यह असंभव था, क्योंकि प्रकृति में खोजा गया विश्वदेव ईश्वर एक अवैयक्तिक तत्त था। समस्त क्षेत्र, समूचे काल और सभी वस्तुओं में व्याप्त वह इतना विराट और इतना सूक्ष्म है कि किसी व्यक्तित्व के संकुचित सांचे में उसे कैद नहीं किया जा सकता।

उधर, रवीन्द्रनाथ की भावनात्मक जरूरतें ईश्वर को एक व्यक्तित्व का आवरण देना चाहती थीं। अन्यथा, एक विराट और व्यापक तत्व मानव प्राणियों जैसी तुच्छ इकाइयों से प्रेम कर सकता है, यह कैसे कल्पना की जा सकती है। इस समस्या पर गहराई से विचार करने के बाद उन्हें एक समाधान मिला। उसका सूत्र उन्होंने शायद प्रकृति की पुस्तक से ही पाया। इस समस्या को उन्होंने जिस ढंग से सुलझाया, उसका संकेत एक कविता में बहुत ही आकर्षक रूप में दिया गया है।

---

1. टैगोर्स वर्क्स: विश्वभारती संस्करण खंड 4

वह समाधान प्रकृति के एक सामान्य तथ्य से निकलता है। सूर्य अपरिमित ऊर्जा का स्रोत है और अपनी किरणें करोड़ों मील के अंतरिक्ष में से भेजता है। ऐसा लगता है कि विशाल आकाश ही इसके लिए उचित स्थान है। घास के सिरे पर अनिश्चित रूप से लटकी ओस की बूंद इतनी तुच्छ दिखती है कि सामान्यत: वह सूर्य के ध्यान देने योग्य नहीं लगती। परन्तु क्या उसके वक्ष पर सूर्य की किरणें नहीं झलकतीं? अत: यह स्पष्ट है कि विराट सूर्य दोहरी भूमिका अदा कर सकता है। एक अवैयक्तिक जीवनदायी शक्ति के रूप में वह अनन्त क्षेत्र में फैलता है, और साथ ही ओस की नन्हीं बूंद पर अलग से ध्यान भी दे सकता है। कविता इस प्रकार है:

"आकाश के सिवा तुम्हें हे सूर्य,
और कौन धारण कर सकता है?
मैं तो तुम्हारा स्वप्न देख सकती हूं,
कोई सेवा नहीं कर सकती,
ओस की बूंद रोते हुए बोली।"
"यह सच है, मैं अपनी द्रुतगामी किरणों से
जग को आलोकित करता हूं,
पर मैं ओस की नन्ही बूंद की भी
पकड़ में आ सकता हूं,
और उसे प्यार कर सकता हूं,'
सूर्य ने ओस की बूंद के वक्ष पर
झुकते हुए, मुस्कराते हुए कहा।"[1]

तो क्या ईश्वर की भी इस रूप में कल्पना नहीं की जा सकती कि अपने व्यापक स्वरूप को त्यागे बिना भी वह व्यक्तित्व से सम्पन्न है? प्रकृति से शिक्षा लेते हुए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सोचा कि परम तत्व दो विभिन्न स्तरों पर कार्य करने की क्षमता रखता है। विश्व के पालन का भार वहन करते हुए वह कर्म के स्तर पर एक अवैयक्तिक तत्त्व के रूप में काम करता है। इस स्तर पर ईश्वर एक अवैयक्तिक शक्ति है। परन्तु दूसरे स्तर पर, जहां वह आनन्द चाहता

1. उत्सर्ग

है, वह एक व्यक्तित्व ओढ़ सकता है और मानव प्राणियों के साथ प्रेम का नाता स्थापित कर सकता है। रवीन्द्रनाथ इसे आनन्द का स्तर कहते हैं।[1]

रवीन्द्रनाथ का कवि यह कल्पना करता है कि वैयक्तिक ईश्वर स्वयं अपनी चरितार्थता के लिए अलग-अलग लोगों का प्रेम प्राप्त करने को उत्सुक है। उनका यह विश्वास था कि प्रकृति में सौन्दर्य का जो अत्यन्त प्राचुर्य है, जिससे कोई व्यावहारिक आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं, वह आनन्द की और उस आनन्द को मानव हृदयों तक पहुंचाने की उसकी इच्छा से ही प्रेरित है। प्रकृति में व्यक्त सौन्दर्य उनकी आंखों को ईश्वर का प्रेम-पत्र लगता है। फूलों का सौन्दर्य, रात में तारों से जड़ा आकाश, सांध्य गगन की रंगों की छटा--ये सब मानव हृदय को आनन्दित करने के लिए हैं, और ईश्वर के साथ प्रेम का नाता जोड़ने के आमंत्रण हैं। उनका तर्क है कि प्रकृति में व्यक्त सौन्दर्य से हमें जो आनन्द की अनुभूति होती है, उसकी व्याख्या केवल इसी तरह के सिद्धान्त से हो सकती है। वे कहते हैं:

> "गुलाब से हमें जो आनन्द मिलता है उसका सार उसकी पंखुड़ियों की गोलाई में कदापि नहीं हो सकता, जैसे कि संगीत के आनन्द का सार ग्रामोफोन-रिकार्ड में नहीं हो सकता। जैसे भी हो, हमें ऐसा लगता है कि गुलाब के द्वारा प्रेम की भाषा हमारे हृदय में पहुंची है।"[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि परम तत्व की दोहरी भूमिका में यह विश्वास एक अंतर्दर्शन की अनुभूति से उनके मन में और पुष्ट हो गया। इसका उन्होंने कई बार विस्तार से वर्णन किया है। उत्तर बंगाल के शाहजादपुर के उनके एक दौरे की यह घटना है। वहां उनकी पारिवारिक जागीर का एक दफ्तर था जिसका एक रेस्ट हाउस भी था। एक दिन दोपहर को जब वे नहाने की इन्तजार में थे और शून्य दृष्टि से खुली खिड़की के पार देख रहे थे, उन्हें अंतर्दर्शन हुआ। वे कहते हैं; "अचानक मुझे अपने भीतर आत्मा में एक हल-चल सी महसूस हुई। अनुभव का मेरा संसार एक क्षण को जगमगा उठा और जो तथ्य विच्छिन्न और धुंधले थे उनमें अर्थ की पहले से अधिक संगति आ गई।"[3]

1. शांतिनिकेतन, सौन्दर्य
2. रिलिजन आफ मैन, द विजन
3. रिलिजन आफ मैन, द विजन

सारांश यह कि उन्होंने यह महसूस किया कि विश्व के पालन से सम्बन्धित स्तर पर जो ईश्वर अनन्त और अवैयक्तिक है, वही सच्चे भक्त के हृदय में व्यक्तित्व धारण कर विराजने लगता है। इस प्रकार वह मानवता में परिभाषित होता है, और जिस व्यक्ति विशेष के जीवन को वह पूर्णता की दिशा में निर्देशित करना चाहता है उसका सहयोग और प्रेम मांगता है। अतः, इस दृष्टि से, व्यक्ति विशेष में दो पृथक अस्तित्व काम कर रहे हैं। एक उसका अपना आत्मा है जिसका जीवन के दिन-प्रतिदिन के कार्यचक्र से गहरा सम्बन्ध है। दूसरा, यदि जीव प्रेम का प्रतिदान करे और स्वेच्छा से सहयोग करे तो, उसकी गतिविधियों को निर्देशित और नियंत्रित करने को तैयार रहता है, ताकि वह उसे अपनी मर्जी का रूप दे सके। इस सहकर्मिता में ईश्वर का वैयक्तिक रूप इस तरह के संयुक्त प्रयास में रुचि लेता लगता है, क्योंकि इससे मनोनीत भक्त के कार्य कलाप द्वारा अभिव्यक्ति पाने के उसके अपने स्वार्थ की पूर्ति होती है। व्यक्ति विशेष के जीवन को परिपूर्ण बनाना एक कलात्मक कार्य है, जिसके द्वारा भक्त के हृदय में विराजता वैय-क्तिक ईश्वर अपने को सर्वोत्तम अभिव्यक्ति देना चाहता है, जैसे कि कला-कार अपने नाटक के निर्देशन द्वारा अपने को अभिव्यक्ति देना चाहता है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर वैयक्तिक ईश्वर की तुलना नाटक के निर्देशक से करते हैं। उसकी रुचि इस बात में होती है कि अभिनेता उसके नाटक में जिस भूमिका को निभा रहा है उसे सफलता के साथ निभाए, और वह अभिनेता का सहयोग चाहता है, ताकि उसे अपनी इच्छा के अनुरूप ढाल सके। इस वैयक्तिक ईश्वर को, जो उन्होंने खोजा, इसी लिए वे **जीवन देवता** का नाम देते हैं। यह वह आंतरिक शक्ति है जो कवि के जीवन को निर्देशित करती है और ढालती है और उसे एक संगति और दिशा प्रदान करती है।

यह एक अनोखी धारणा है जिसकी दर्शन या धर्म के क्षेत्र में अन्यत्र कोई उपमा नहीं मिलती। यह दार्शनिक विवेचन पर उतनी आधारित नहीं है जितनी कि निजी अंतर्दर्शन से प्राप्त आस्था पर आधारित है। इस लिए इस पर यह आक्षेप करना कि इसका कोई तर्कसंगत आधार नहीं है, उचित नहीं है। यह धारणा बौद्धिक जिज्ञासा से उतनी प्रेरित नहीं थी जितनी कि उनकी भावनात्मक आवश्यकताओं से प्रेरित थी। इस कमजोरी को वे साफ-साफ

स्वीकार करते हैं। जैसा कि उनके इस कथन से सिद्ध हो जाएगा:

> "ईश्वर-सम्बन्धी यह विचार मेरे मन में दार्शनिक विवेचन की किसी प्रक्रिया द्वारा नहीं पनपा है। इसके विपरीत, आरम्भ से ही यह मेरे स्वभाव की धारा का अनुसरण करता रहा और फिर एक प्रत्यक्ष अंतर्दर्शन से अचानक मेरी चेतना में कौंध उठा।"

जीवन देवता का यह विचार, जिसमें ईश्वर का मानवीकरण हो जाता है, लगता है, उनके जीवन में काफी पहले ही पूर्ण रूप ले चुका था। उनके काव्य संग्रह **चित्रा** में, जो 1896 में प्रकाशित हुआ था जब कि वे उत्तर बंगाल में रह रहे थे, एक कविता का यही शीर्षक है और वह इसी विषय से प्रेरित है। अनुमान है कि इसकी प्रेरणा उन्हें अपनी जागीरों के एक दौरे में हुए अंतर्दर्शन से मिली थी। यह दौरा उन्होंने उससे कुछ समय पहले ही किया होगा। इस विषय ने, लगता है, बहुत बाद में उनके काव्य पर अपना पूरा प्रभाव डाला। बंगला **गीतांजलि** में संकलित कविताओं में ही **जीवन देवता** की धारणा केन्द्रीय विचार के रूप में सामने आई। यह पुस्तक 1910 में प्रकाशित हुई थी और इसमें जो सबसे पुरानी कविताएं थीं वे 1906 की थीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह विचार कोई दस साल तक सोया रहा। बीच की यह अवधि कहानियों, गम्भीर कविताओं, देश प्रेम की कविताओं और एक उपन्यास से भरी है। अधिक सम्भावना यही लगती है कि यह विचार बन तो चुका था पर कवि का मन इस पर अपनी प्रतिक्रिया के लिए अभी तैयार नहीं हुआ था। शायद कष्टों और दुर्भाग्य के इस अन्तराल ने ही, जिसमें उन्हें अपने घनिष्ठ और प्रिय जनों के निधन का कई बार शोक भोगना पड़ा, इस प्रक्रिया को तेज किया, जिससे वे स्वयं को अपने मन के अन्दर खींच सके और यह महान धारणा प्रस्तुत कर सके। उनके एक गीत की निम्न पंक्तियां, जो पहले भी उद्धृत की जा चुकी हैं, शायद इस कथन की पुष्टि करती हैं:

> "दुःख के अंधकार से तुम्हारा दयामय आलोक
> यदि दीप्त होता हो, तो यही हो।"

यह विषय एक बार जब उनके मन पर हावी हो गया तो यह साहित्य के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक चीज हो गई। अपने जीवन के इस दौर में उन्हें

---

1. रिलिजन आफ मैन, मैन्स यूनिवर्स

काव्य की सबसे भरपूर फसल मिली। **जीवन देवता** के केन्द्रीय विषय ने इतनी कविताओं के लिए प्रेरणा दी कि चार वर्ष में ही उनके तीन संकलन प्रकाशित हुए। वे हैं **गीतांजली**, **गीतिमाल्य** और **गीताली**, जिनमें बाद के दो संकलन 1914 में प्रकाशित हुए। ये कविताएं अपनी सरल और भव्य शैली तथा भावनात्मक गहराई, दोनों के कारण उच्च कोटि की काव्य-कृतियां हैं।

यह विषय इतना हृदयग्राही सिद्ध हुआ कि उन्होंने इसे अपने एक प्रतीक नाटक **राजा** की विषय-वस्तु बनाया, जो उसी साल प्रकाशित हुआ जिस साल कि **गीतांजलि** प्रकाशित हुई थी। दस वर्ष बाद उन्होंने **अरूप रत्न** नाम से उसी नाटक का एक और भी सुसम्बद्ध रूप प्रस्तुत किया। इसका नायक ईश्वर का वैयक्तिक रूप है जो रानी सुदर्शना के रूप में कल्पित जीवात्मा से उसके हृदय के अंधेरे कक्ष में मिलता है।

ये तीनों पुस्तकें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य-जीवन की दूसरी अवस्था के इतिहास को तथा आत्मदर्शन की दिशा में उनकी प्रगति को पद्य में अंकित करती हैं। ये कविताएं उन विचारों और मनोभावों को प्रतिबिम्बित करती हैं जो **जीवन देवता** के महान विषय से प्रभावित उनके मन में आन्दोलित हो रहे थे। व्यक्ति ईश्वर से सम्पर्क की उनकी लालसा, मिलन में विलम्ब से उनकी निराशा, पीड़ातुर हताशा और अंत में हर्षातिरेक की अनुभूति देने वाला मिलन–इन सबका इन कविताओं में सुन्दर भाषा में चित्रण है।

परन्तु, इस महान विषय में निराशा का बीज निहित था जिसने, समय आने पर अंकुरित हो, रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपनी राह बदलने को तैयार किया और वह राह उन्हें उनकी यात्रा की अंतिम अवस्था, आत्मदर्शन पर ले गई। इस महान विषय का नशा जैसे ही उतरा तो रवीन्द्रनाथ को लगा कि इस धारणा से जिस तरह की धार्मिक अनुभूति मिलती है वह पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। जब कोई किसी व्यक्ति विशेष के लिए प्रेम और आदर की गहरी भावना रखता है तो वह उसे अपनी सेवा अर्पित करने की प्रेरणा भी महसूस करता है। श्रद्धा केवल हृदय में भावनात्मक रूप से अनुभव करने की चीज नहीं है, वह निजी सेवा के विभिन्न कार्यों द्वारा कर्म में भी व्यक्त होनी चाहिए। परन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने **जीवन देवता** की जिस रूप में कल्पना की थी वह निजी सेवा ग्रहण ही नहीं कर सकता था, क्योंकि उसकी तो अंधेरे कक्ष के राजा की तरह अरूप रत्न के रूप में कल्पना की गई थी।

सेवा अर्पित करने की इस जरूरत से ही उनके मन में वह प्रक्रिया शुरू हुई जिससे आखिर वे अपने हृदय के अनुरूप धर्म की खोज कर पाए। उसमें ईश्वर का वस्तुत: मानवीकरण हो गया। उनके इस धर्म की रचना में मनुष्य की तीन प्रमुख क्षमताओं का काफी प्रभाव रहा है। ये बुद्धि, भावना और संकल्प की क्षमताएं हैं जो ज्ञान, भक्ति और कर्म की भारतीय धारणा के समरूप हैं। मनुष्य के धर्म की रचना में किसी एक क्षमता की प्रमुख भूमिका रहने से, तदनुसार, तीन अलग-अलग मार्ग हो सकते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने निजी अनुभव से यह समझ गए कि इस तरह के अलग-अलग मार्गों से असन्तोषजनक परिणाम निकलते हैं।

प्रकृति में से हो कर जाने वाला उनका मार्ग बुद्धि का मार्ग था। उस मार्ग से ईश्वर को खोजने के उनके प्रयास उन्हें ईश्वर की सर्वेश्वरवादी धारणा पर ले गए। उसमें ईश्वर एक व्यापक अवैयक्तिक शक्ति के रूप में काम करता है, जिसकी उपस्थिति का अनुमान तो लगाया जा सकता है, पर जिसे इन्द्रियों से सीधा अनुभव नहीं किया जा सकता। अत: वे कहते हैं: "विश्व में व्यक्त ब्रह्मा का ज्ञान हमें केवल अनुमान द्वारा सामान्य नामों में हो सकता है।"[1]

भावना में से होकर जानेवाला मार्ग उन्हें **जीवन देवता**, 'कवि के जीवन के प्रधान देवता' की खोज पर ले गया। उससे भावनात्मक क्षमता को बहुत सन्तोष मिला, पर उसकी भी अपनी सीमाएं थीं। उसमें उनके लिए भगवत्सेवा की अपनी अंत:प्रेरणा को सन्तुष्ट करने की कोई गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि उनकी धारणा के उस वैयक्तिक ईश्वर का कोई शारीरिक अवतार तो था नहीं। वहां से निराशा होने पर, वे अचेतन जगत के रूप में मौजूद उसकी भौतिक अभिव्यक्ति की ओर मुड़ सकते थे। पर उसमें कोई तुक नहीं थी, क्योंकि वह व्यक्तित्व के सम्पन्न नहीं है और उसे सेवा की भी जरूरत नहीं है। अत: वे कहते हैं : "जल, थल, आकाश, ग्रहों और नक्षत्रों के साथ प्रेम की भावनाओं का आदान-प्रदान सम्भव नहीं है—हमारे कल्याणकारी कार्यों का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।"[2]

---

1. टैगोर्स वर्क्स, विश्व-भारती संस्करण, खंड 13
2. वही

इस प्रकार 'नेति नेति' की प्रक्रिया द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बुद्धि, भावना और संकल्प तीनों द्वारा ईश्वर से पूर्ण मिलन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, मनुष्य के द्वारा उससे सम्पर्क स्थापित करना। मनुष्य ईश्वर की ऐसी अभिव्यक्ति है जो हमारे सब से निकट है, यह समझ लेने पर व्यक्ति उसके साथ बौद्धिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है; अपने मानव बंधुओं से प्रेम कर वह उसके साथ भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है; और आम मानव जाति की सेवा कर शरीरधारी ईश्वर की सेवा कर सकता है।

अत: वे कहते हैं : "हमारे अधिकारों की यथासम्भव पूर्ण तृप्ति केवल तभी होती है जब ज्ञान, प्रेम और कर्म की हमारी क्षमता हमारी सभी प्रच्छन शक्तियों को अभिव्यक्ति दे पाती है। इसलिए ज्ञान, प्रेम और सेवा द्वारा एक-साथ ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित करने के अपने अधिकार को प्रयोग में लाने का मानवता के सिवा और कोई मार्ग नहीं है।"[1]

इस तरह रवीन्द्रनाथ की खोज का अंत मनुष्य में ईश्वर के आविष्कार से हुआ। उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया कि व्यक्ति केवल मनुष्य के द्वारा ही ईश्वर को उसके पूर्णतम रूप में प्राप्त कर सकता है। बुद्धि से उसे सीधे तौर पर समझा जा सकता है; व्यक्तित्व से सम्पन्न होने के कारण उससे प्रेम का आदान-प्रदान किया जा सकता है; और क्योंकि वह सेवा ग्रहण कर सकता है, इसलिए उसके द्वारा भगवत्सेवा भी की जा सकती है। इस प्रकार उसके द्वारा एक साथ ज्ञान, भक्ति और कर्म के मार्ग से ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की खोज का अंत इस प्रकार एक विशेष प्रकार के मानववाद में हुआ, जिसका केन्द्र-बिन्दु मनुष्य इसलिए बन जाता है क्योंकि वह मनुष्य के सम्मुख ईश्वर को सब से प्रभावशाली रूप में व्यक्त करता है।

अपनी इस प्रस्थापना की पुष्टि रवीन्द्रनाथ एक दृष्टांत से करते हैं। उनका तर्क है कि ईश्वर मनुष्य के सम्मुख विभिन्न रूपों में व्यक्त है, चेतन रूपों में भी और अचेतन रूपों में भी। इनमें से किसी के भी द्वारा हम उसके साथ मूर्त रूप में सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। पर यह चुनाव अंधाधुंध नहीं करना चाहिए। जो रूप मनुष्य के सब से निकट हो उसी को युक्तिसंगत रूप से चुनना चाहिए। स्पष्ट है कि वह रूप मनुष्य ही हो सकता

1. टैगोर्स वर्क्स, विश्व-भारती संस्करण, खंड 13

है, क्योंकि उसके द्वारा ईश्वर मनुष्य के सब से निकट आ जाता है। अपनी इस बात के समर्थन में वे नारी का दृष्टांत देते हैं। वे कहते हैं, विभिन्न व्यक्तियों के साथ उसके विभिन्न नाते हो सकते हैं। किसी की वह बेटी है, किसी की बहन है, किसी की सहेली है, पर उसका बच्चा घनिष्ट रूप से उसे मां के रूप में जानता है। इसी तरह ईश्वर विभिन्न रूपों में व्यक्त होते हुए भी, मनुष्य के रूप में ही मनुष्य के सब से निकट है। उनके अपने शब्दों में :

"जिस प्रकार मां का अपने बच्चे के साथ, मां के नाते ही, सब से गहरा और सीधा सम्बन्ध है, दुनिया के साथ उसके तरह-तरह के अन्य नातों का न तो बच्चे को ज्ञान है और न वे उसके लिए उपयोगी हैं, उसी प्रकार ईश्वर मनुष्य के लिए मानवता में ही सब से सच्चे और घनिष्ट रूप में व्यक्त है। इस तरह के नाते से ही हम उसे जानते हैं, उससे प्रेम करते हैं और उसे अपनी सेवा अर्पित करते हैं।"[1]

यही विचार उनके काव्यात्मक चिन्तन के भी सब से परिपक्व रूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि 'मनुष्य में भगवान' का यह विचार जीवन के इस दौर में रची उनकी बहुत-सी कविताओं का प्रेरणा-स्रोत है। यह उनके व्याख्यानों और गम्भीर निबन्धों की भी विषय-वस्तु बना। 1930 में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर उन्होंने जो 'हिबर्ट लैक्चर' दिए उनकी भी यह विषय-वस्तु बना। इसीलिए इन लैक्चरों के संकलन को उन्होंने 'द रिलिजन आफ मैन' नाम दिया।

इस दौर में उनके मन ने हृदय के अंधेरे कक्ष में वैयक्तिक ईश्वर के साथ सम्पर्क में आनन्द लेना छोड़ दिया और जन-साधारण के माध्यम से उससे सम्पर्क स्थापित करना उन्हें ज्यादा अच्छा लगने लगा। उनकी आंखों में वे लोग अधम जन-समूह नहीं, बल्कि ईश्वर का अवतार थे। इसी प्रेरणा से रचित एक कविता के पहले पद का भावानुवाद इस प्रकार है :

"जहां तुम्हारा जन-समूह के साथ मिलन है
मैं तुमसे वहीं मिलना चाहूंगा ।
वन में नहीं, एकांत में नहीं,
अपने मन के भीतर भी नहीं ।

1. टैगोर्स वर्क्स, विश्व-भारती संस्करण, खंड 13

जहां तुम हर किसी के प्रिय हो
वहीं मेरे भी प्रिय हो।''[1]

यही प्रेरणा उन्हें धर्मनिष्ठ लोगों को यह बताने के लिए प्रवृत्त करती है कि ईश्वर को मन्दिरों में खोजने और वहां उसके आगे फूल चढ़ाने और धूप जलाने में कोई तुक नहीं है। उसे तो जन-साधारण में खोजना चाहिए। वे कहते हैं :

"अपने ध्यान से बाहर आओ और इन फलों और धूप-बत्तियों को छोड़ो। तुम्हारे वस्त्र फट जाते हैं और मैले हो जाते हैं तो क्या हुआ? बड़ी मेहनत और अपने माथे के पसीने में उससे मिलो और उसके पास रहो।''[2]

धर्मनिष्ठ व्यक्ति को कड़ी मेहनत और पसीने में ईश्वर से मिलना चाहिए, यह बात लगता है विशेष महत्त्व रखती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मानवावाद की व्याख्या करते हुए हम यह बता चुके हैं कि इस धारणा के अनुसार प्रेम और सेवा की पात्र आम मानव जाति होनी चाहिए, क्योंकि हमारे लिए मनुष्य ही ईश्वर की सबसे निकट अभिव्यक्ति है। ऐसा लगता है कि इसी विचारधारा में थोड़ा परिवर्तन होकर यह विचार बना कि ईश्वर दीन-हीन वर्गों में विशेष रूप से व्यक्त है। सड़क बनानेवाला मजदूर, खेती करने वाला किसान और आमतौर पर वे लोग जो शब्दशः अपने पसीने से जीते हैं और समाज के सब से निचले स्तर से सम्बन्ध रखते हैं, वही ईश्वर का ज्यादा सार्थक ढंग से प्रतिनिधित्व करते हैं। शायद इसमें ईसा के इस विचार की प्रतिध्वनि है कि "गरीब लोग भाग्यवान हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।" यह विचार, जाहिर है, इस समझ से प्रेरित है कि इस तरह के लोगों को ही हमारे प्रेम और ध्यान की जरूरत है, और उनकी सेवा का ही सब से अच्छा परिणाम निकलता है।

उनकी एक और कविता को हम इस विचार के आदर्श उदाहरण के रूप में रख सकते हैं। उसमें वे कहते हैं कि ईश्वर को भाग्यशाली सम्पन्न वर्गों में नहीं, बल्कि गरीब वर्गों में खोजना चाहिए :

"वह वहां है जहां किसान
कड़ी जमीन जोत रहा है,

---

1. गीतांजलि
2. गीतांजलि (अंग्रेजी संस्करण)

जहां मजदूर पत्थर फोड़ रहा है।
वह धूप और बरसात में उनके साथ है,
उसके वस्त्र धूल से अटे हैं।
अपने इस पवित्र चोगे को उतार दो,
उसकी तरह नीचे धूल व मिट्टी में आ जाओ।''[1]

इस दृष्टिकोण से, आम मानवजाति, और विशेष कर दीन-हीन वर्गों, के कल्याण के लिए किया जानेवाला निःस्वार्थ कार्य धार्मिक प्रेरणा की तुष्टि का सब से अच्छा मार्ग बन जाता है। कर्मकांड और प्रार्थनाओं का स्थान कल्याणकारी कार्य ले लेते हैं। इस तरह के कार्य के चुनाव के लिए रवीन्द्रनाथ एक सीधा और व्यावहारिक मापदण्ड रखते हैं। जिस कार्य से भी मानवजाति की आम भलाई हो वह चुनाव के लिए अच्छा है। कार्य छोटा हो और उसका थोड़ा ही परिणाम निकलता हो, तो कोई बात नहीं। मुख्य चीज यह है कि उससे किसी व्यक्ति विशेष की बजाय आम समाज का भला होना चाहिए। कसौटी यही है कि उस कार्य से संसार की भलाई के ध्येय को बढ़ावा मिले। भगवान के सेवक को इसीलिए **विश्वकर्मा** बन जाना चाहिए। इस शब्द की उनकी अपनी व्याख्या इस प्रकार है :

> ''ईश्वर से जुड़ने के लिए हमें अपने स्वार्थ से प्रेरित काम छोड़ना होता है और **विश्वकर्मा** बनना होता है 'सब के लिए' काम करना होता है। मेरा मतलब असंख्य लोगों के लिए नहीं है। जो भी काम अच्छा हो, वह फैलाव में चाहे जितना छोटा हो, स्वभाव से सबके लिए है। इस तरह के कार्य से करनेवाले को सबके लिए कार्य करनेवाले **विश्वकर्मा** की अनुभूति होती है।''[2]

इस तरह धार्मिक अभिव्यक्ति के एक उपयुक्त रूप की निरन्तर खोज का पुरस्कार रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनके अपने ढंग के मानववाद में मिला। इस मानववाद में मनुष्य प्रेम और सेवा पात्र अपने अधिकार से नहीं, बल्कि ईश्वर की ऐसी अभिव्यक्ति होने के कारण बनता है जिसमें ईश्वर उसके सबसे निकट है। यह भारतीय परम्परा की भावना के अनुरूप है। मानववाद का धर्मनिष्ठा से सीधी जुड़ी एक धारणा के रूप में विकास यद्यपि प्राचीन काल

---

1. गीतांजलि (अंग्रेजी संस्करण)
2. रिलिजन आफ मैन, स्प्रिच्युअल यूनियन

में नहीं हुआ था, फिर भी उसके बीज प्राचीन साहित्य और आचार में खोजे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, **ईशोपनिषद्** के, जो **यजुर्वेद संहिता** का एक भाग है, पहले मंत्र का उल्लेख किया जा सकता है। उसमें कहा गया है कि संसार में हम जो कुछ भी देखते हैं सब ईश्वर से व्याप्त है, इसलिए हमें जीवन का संयम से उपभोग करना चाहिए। जाहिर है, इसका अर्थ यही है कि हमें अपना आचरण इस तरह मर्यादा में रखना चाहिए जिससे अन्य मानव प्राणियों के हित पर आघात न हो। यह परोपकार के कामों को इस कारण बढ़ावा देता है कि सभी प्राणी एक सर्वव्यापक सत्ता का भाग हैं। जिस आचरण का इसमें निर्देश है वह इस तथ्य के बोध से प्रेरित है कि मानव प्राणी ईश्वर को प्रतिबिम्बित करते हैं।

इस विचार का सिलसिला परवर्ती भारतीय साहित्य में भी ढूंढा जा सकता है। उदाहरण के लिए, **मनुस्मृति** में गृहस्थ के लिए चार प्रकार के यज्ञों का विधान है। उनमें एक नृ-यज्ञ, अर्थात् मानव-सेवा है। मध्य युग के लोकप्रिय साहित्य तक में इस तरह की भावनाएं ढूंढी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, नारायण पंडित रचित **हितोपदेश** के एक श्लोक का भाव इस प्रकार है :

"हे कुंतीपुत्र, निर्धनों की सेवा करो,
ईश्वर को धन अर्पित मत करो।
औषध रोगी को दी जाती है,
स्वस्थ व्यक्ति उसका क्या करेगा?"

धर्मशास्त्रों से अनभिज्ञ साधारण लोगों तक में ऐसे विचार प्रचलित हैं जिनमें मानववादी भावना की गंध मिलती है। **नरनारायण** शब्द से, जो ईश्वर को मनुष्य के साथ एकाकार करता है, लोग अच्छी तरह परिचित हैं। इसी तरह का एक और प्रचलित शब्द **दरिद्रनारायण** है, जो ईश्वर को दरिद्र व्यक्ति में आरोपित करता है।

ये विचार इस भावना से प्रेरित हैं कि मनुष्य की सेवा, विशेष कर दीन-हीन मनुष्य की सेवा ही सब से बड़ी भगवत् सेवा है। यहां मानववाद धर्म पर आधारित है।

परन्तु पाश्चात्य मानववाद धर्म से कोई नाता नहीं रखता। वह, स्पष्ट रूप से, धर्म और दर्शन पर पड़े विज्ञान के दबाव की उपज है। कान्ट का प्रत्यक्षवाद इसका आदर्श उदाहरण है। धर्म या दार्शनिक चिन्तन ही परम

तत्त्व के स्वरूप पर कोई प्रकाश डाल सकते हैं—यह आस्था खो देने पर, कान्ट ने यह सुझाया कि ज्ञान का अन्वेषण विज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जगत की व्याख्या तक सीमित रखा जाए, और यह व्याख्या उसके व्यापारों को प्रकृति के नियमों से जोड़ते हुए की जाए। अतः उन्होंने, धर्म के विकल्प के रूप में, एक नई समाजधर्मी दृष्टि की रचना की, जिसका यह निर्देश था कि ईश्वर की बजाय आम तौर पर मनुष्य और खास तौर पर महापुरुषों की पूजा होनी चाहिए। साथ ही उन्होंने मानव-कल्याण को बढ़ावा देनेवाले परोपकारी कार्यों का निर्देश दिया।

कान्ट का मानववाद इस प्रकार उस संशयवाद से जन्मा था जो धर्म और दर्शन दोनों में आस्था खो चुका था। इसीलिए उन्होंने ईश्वर की पूजा की जगह मनुष्य की पूजा को दी, क्योंकि उनके विचार से वही बोधगम्य यथार्थ है। इसी तरह, ईश्वर की सेवा की जगह उन्होंने मनुष्य की सेवा को दी। यह मानववाद धर्म से अलग फूला-फला।

इसके विपरीत, मानववादी भारतीय चिन्तन एक भिन्न मार्ग की ओर निर्देशित था। पहली बात तो यह कि वह संशयवाद से नहीं फूटा है। परम तत्व में, उसका रूप चाहे सर्वेश्वरवादी हो या ईश्वरवादी, आस्था छोड़ने का उसके पास कोई कारण नहीं था। अतः उसके मानववाद का आधार ईश्वर में आस्था है, और वह मनुष्य की सेवा की वकालत ईश्वर को मनुष्य के साथ एकाकार करके करता है। वह धर्म में आस्था पर आधारित है और धर्म से सीधा जुड़ा है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मानववाद इस परम्परा को कायम रखता है। वह ईश्वर में उनकी जीवन आस्था से फूटता है और धर्म से प्रेरणा लेता है। यह विशेषता उनके मानववाद को पाश्चात्य ढंग के मानववाद से अधिक प्रभावशाली बनाती है। भगवत सेवा की प्रेरणा बलवती भी है और सार्वभौमिक भी। अत : वह धर्मनिष्ठा को मानववाद से जोड़कर पाश्चात्य मानववाद से अधिक बलवती प्रेरणा देता है। वह धर्मनिष्ठा को उसके मूल से जोड़ देता है।

10. विश्व-विभूति के रूप में मान्यता

बहुत पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात पर दुःख व्यक्त किया था कि आज भारत की आवाज बाहर की दुनिया में कहीं सुनाई नहीं पड़ती, जबकि प्राचीन काल में उसकी इतनी कीर्ति थी और उसके पुत्र तब गर्व से यह घोषणा किया करते थे कि उन्होंने परम तत्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। विश्व के सांस्कृतिक नक्शे में भारत को आज कोई स्थान नहीं दिया गया है। जाहिर है कि इसका कोई अन्य उपाय न देख, उन्होंने स्वयं को ही इस भूमिका के लिए तैयार करने का निश्चय किया। शायद वे यह समझ गए थे कि भारत का आध्यात्मिक राजदूत बनना उनकी नियति है।

अब तक वे अपनी प्रतिभाएं भारत के एक सुदूर कोने में पुष्ट करते रहे थे और, राष्ट्रीय की भावना से अनुप्राणित होने के कारण, अपने भाव और विचार उन्होंने बंगला में व्यक्त किए थे जो उनकी मातृभाषा थी। यह भाषा यद्यपि पूर्वी भारत की एक बड़ी आबादी द्वारा बोली जाती थी, फिर भी इसका साहित्य तब तक पूर्ण विकसित नहीं हुआ था, पर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय जैसे महान लेखकों ने उसे विकास के मार्ग पर अग्रसर कर दिया था। इस प्रक्रिया में उन लेखकों ने बंगला साहित्य को खूब समृद्ध किया। तथापि, वह भारत के एक कोने की भाषा थी जो भारत से बाहर के लोगों का ध्यान नहीं खींच सकती थी। यह सच है कि बंगाल के अन्दर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ख्याति एक अद्वितीय साहित्यिक विभूति के रूप में हो गई थी, पर बाहर की दुनिया अभी भी उनसे अपरिचित थी।

सचाई तो यह है कि 1910 में **गीतांजलि** के प्रकाशित होने तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजे अवनीन्द्रनाथ को, जो उनके पुश्तैनी मकान की ही चारदीवारी में रहता था, बाहर की दुनिया उससे कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानती थी। वह एक नए कला विद्यालय के संस्थापक के कारण जाना जाने लगा था। उसकी ख्याति जब देश से बाहर फैली तो प्रतिष्ठित विदेशी कलाकार कला पर विचार-विमर्श करने के लिए उससे घर पर मिलने आने लगे। उनमें जापानी चित्रकार तैक्कान और ओकाकुरा भी थे। सुप्रसिद्ध कलाकार हैवेल उसके बड़े प्रशंसकों में से थे। अपनी कला के ही कारण

अवनीन्द्रनाथ की सुप्रसिद्ध ब्रिटिश कलाकार रोथेन्स्टाइन से मित्रता हो गई। ये कलाकार, उनके भतीजे के इतने घनिष्ठ सम्पर्क में होते हुए भी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में कुछ नहीं जानते थे। इस तरह दुनिया की नजरों में छिपे रहकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, तैयारी के लम्बे और अत्यन्त क्रियाशील दौरों के बाद, अपनी शक्ति के चरमोत्कर्ष पर पहुंचे। वे अब उस भूमिका को ग्रहण करने के लिए तैयार थे जो नियति ने उनके लिए निर्धारित की थी। परन्तु उससे पहले यह जरूरी था कि बाहर की दुनिया के लोग उनसे परिचित हों। परिचय की यह प्रक्रिया परिस्थितियों के विचित्र संयोग से इस तरह सम्पन्न हुई मानो कोई अदृश्य शक्ति उनके द्वारा अपनी योजना पूरी कर रही हो।

1902 में अपनी प्रिय पत्नी मृणालिनी देवी के देहान्त के बाद से ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर को गृहस्थ जीवन का सुख और आराम नहीं मिल रहा था। इसके विपरित, परिवार में हुई कई मौतों और देश-भर में मची राजनीतिक उथल-पुथल का उनके शरीर पर बुरा असर पड़ा। कोई उनकी ठीक तरह देखभाल करनेवाला नहीं था। अतः उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरने लगा, यहां तक कि 1912 में वह बहुत ही खराब हो गया। आम कमजोरी के अलावा उन्हें एक ऐसी बीमारी भी हो गई जिसके लिए उनके चिकित्सकों ने शल्य-चिकित्सा की सलाह दी। उनकी सलाह के अनुसार आखिर यह फैसला किया गया कि इलाज के लिए उन्हें लन्दन ले जाया जाए।

यह तय हुआ कि 1912 के आरम्भ में वे कलकत्ता से ही जहाज पकड़ कर ब्रिटेन जाएंगे। यह भी निश्चय हुआ कि उनका पुत्र रथीन्द्र-नाथ और पुत्रवधु प्रतिमा देवी उनके साथ जाएंगे। जहाज के टिकट ले लिए गये और केबिन सुरक्षित हो गए। जहाज चांदपाल घाट पर लगा था, एक दिन पहले उनका असबाब वहां भेज दिया गया था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जिस दिन रवाना होना था उससे पहले दिन शाम को कलकत्ता उच्च न्यायालय के प्रतिष्ठित न्यायाधीश आशुतोष चौधरी के घर पर, जो उनकी भतीजी के पति थे, उनके लिए एक विदाई-समारोह आयोजित किया गया। समाज के गण्य-मान्य व्यक्ति उन्हें हार्दिक विदाई देने के लिए वहां एकत्रित हुए। समारोह समाप्त होने पर रात देर से वे घर लौटे। दुर्भाग्य से अगले दिन वे बहुत बीमार हो गए, इसलिए यात्रा रद्द करनी पड़ी और असबाब वापस मंगा लिया गया।

इलाज से जल्दी ही उनकी हालत सुधर गई, इसलिए यात्रा का फिर प्रबन्ध किया जा सकता था। पर उसमें कुछ समय लगना था। अब सवाल यह था कि बीच का यह समय वे कहां बिताएं। वे शान्तिनिकेतन वापस जाएं, डाक्टर इसके खिलाफ थे, क्योंकि वहां वे अपने स्कूल के रोजमर्रा के काम-काज में फंस सकते थे। उधर, इतने दिन तक कलकत्ता के पुश्तैनी मकान में रहना उनके मिजाज से मेल नहीं खाता था। इसलिए आखिर यही फैसला हुआ कि वे यह समय सियालदह के शान्त वातावरण में बिताएं और वहां के बंगले में रहें, जहां कि उनके पारिवारिक जीवन के सबसे अच्छे दिन बीते थे। यह जगह उनके अनुकूल और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो अच्छी थी ही, साथ ही डाक्टरों के आशय को भी अच्छी तरह पूरा करती थी, क्योंकि वहां अलग-थलग रहते हुए वे पूरी तरह आराम कर सकते थे।

अतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपना खाली समय बिताने के लिए सियालदह चले गए। उनके लिए लिखना तक मना कर दिया गया था, क्योंकि उनके स्वास्थ्य की दशा उस समय ऐसी थी कि वह उसके दबाव को सहन नहीं कर सकती थी। इन परिस्थितियों में, जबकि उन्हें कोई भी गम्भीर कार्य करने की अनुमति नहीं थी, उनके सामने यह समस्या आई कि वे अपना समय कैसे बिताएं। सौभाग्य से उनमें यह प्रेरणा जागी कि वे खाली समय अपनी कविताओं को अंग्रेजी में अनुवाद करने में लगा सकते हैं। कुछ समय पहले ही इस प्रकार के अनुवाद 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुए थे। इनकी प्रशंसा जगदीश चन्द्र बसु तथा आनन्द कुमारस्वामी ने भी की। इस प्रकार के अनुमोदनों ने उन्हें और उत्साहित किया।

अचानक इन संयोगों के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी कुछ कविताओं का भी अंग्रेजी में अनुवाद करने का निश्चय किया। इस बात से उनको ऐसी आशा कभी भी नहीं कि इन कार्यों से वे साहित्यिक जगत में उत्कृष्ठ स्थान प्राप्त कर लेंगे। सियालदह के बंगले के एकान्त में उन्होंने अपने विभिन्न काव्य-संग्रहों में से बहुत-सी कविताएं अनुवाद के लिए छांटीं। उनमें से 103 कविताओं का उन्होंने अनुवाद किया और संकलन को 'गीतांजलि' तथा अंग्रेजी में 'सौंग आफ रिंग्स' नाम दिया।

उसे इस तरह का नाम देने की प्रेरणा उन्हें शायद दो कारणों से मिली। पहला यह कि उन 103 कविताओं में से 55 बंगला **गीतांजलि** से ली गई

थीं और शेष अन्य आठ संग्रहों से थीं। अन्य संग्रहों में **गीतिमाल्य** का योगदान सबसे अधिक था; उसमें से 16 कविताएं ली गई थीं। ये दोनों संग्रह एक ही विषय से प्रेरित थे, यानी कवि और उसके वैयक्तिक ईश्वर का, जिसे वे उसका जीवन देवता कहते थे, इस तरह इनका प्रधान स्वर ईश्वर के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति था और इस अर्थ में यह ईश्वर को गीतों की भेंट थी। बंगला **गीतांजलि** केवल इसी विषय से प्रेरित कविताओं का संग्रह है। अंग्रेजी संकलन का यह प्रधान स्वर था।

इसी अवधि में इंग्लैंड की यात्रा की व्यवस्था हो गई थी। इस बार वे ही लोग 27 मई, 1912 को बम्बई से पी. एण्ड ओ. के एक जहाज पर चढ़े और गर्मी में एक दिन सायंकाल लन्दन पहुंच गए। उनके ट्रैवल-एजेन्ट, टामस कुक एण्ड सन्ज, ने उनके लिए ब्लूमस्बरी में एक होटल में रहने की व्यवस्था कर रखी थी जहां वे चेरिंग क्रांस ट्यूब-रेलवे स्टेशन से पहुंच गए।

यह पहले ही तय हो गया था कि अगले दिन रवीन्द्रनाथ ठाकुर कलाकार विलियम रोथेन्स्टाइन से मिलने जाएंगे। लन्दन की इस यात्रा में **गीतांजलि** की पाण्डुलिपि रवीन्द्रनाथ की निगरानी में थी और वह एक अटैची केस में थी। रोथेन्स्टाइन से मिलने जाने से पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रथीन्द्रनाथ से वह पाण्डुलिपि लाने को कहा। पर वे दोनों यह देखकर घबरा गए कि वह थी ही नहीं। बड़ी बदहवासी से उसकी तलाश शुरू हुई, जिसका फल आखिर यह निकला कि वह 'पड़े पाए गए सामान के दफ्तर' में मिल गई। जिस ट्यूब-रेल से वे लोग होटल पहुंचे थे, अनुमान है, उसी में छूट गई थी। अपने संस्मरणों में रथीन्द्रनाथ लिखते हैं: "खोई हुई चीज जब आखिर वहां मुझे मिल गई तो कितनी राहत हुई, इसकी कल्पना की जा सकती है। तब से कई बार मैं यह सोच चुका हूं कि **गीतांजलि** की वह पाण्डुलिपि मेरी लापरवाही से यदि खो ही जाती तो घटना-क्रम क्या रहा होता।"[1]

यहां जो प्रश्न उठाया गया है वह सचमुच विचारणीय है। हो सकता है पाश्चात्य जगत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की खोज न कर पाता, या और कुछ नहीं तो उसमें काफी विलम्ब तो हो ही जाता। दोनों अवस्थाएं विश्व संस्कृति के ध्येय के लिए दुर्भाग्य सिद्ध होतीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जीवन-यात्रा का एक मोड़ सिद्ध होकर गीतांजलि (सॉंग-ऑफरिंग्स) ने जो महान भूमिका अदा

1. रथीन्द्रनाथ ठाकुर: आन द एजिस आफ टाइम, लन्दन में पिता के साथ

की, वह तब उसकी न रही होती।

गीतांजलि यदि वह माध्यम थी जिसके द्वारा पाश्चात्य जगत रवीन्द्रनाथ ठाकुर से परिचित हुआ, तो उसके लिए घटना-क्रम को ठीक दिशा में मोड़ने वाले थे–विलियम रोथेन्स्टाइन। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कहने पर उन्होंने बड़ी खुशी और सच्चे दिल से जो भूमिका निभाई वे उसके लिए बहुत ही उपयुक्त थे। वे एक बड़े चित्रकार थे और अपने क्षेत्र में उनकी जो उपलब्धियां थीं उनके कारण समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। दूसरी ओर, अपनी व्यापक अभिरुचि के कारण उनके मित्रों का एक बड़ा दायरा था जिसमें कला, राजनीति और साहित्य क्षेत्र के प्रमुख व्यक्ति शामिल थे। वार्तालाप में निपुण होने के कारण, वे एक अच्छे मेजबान थे। वे ऐसी स्थिति में थे कि ब्रिटेन के किसी भी प्रतिष्ठित साहित्यकार से रवीन्द्रनाथ का सम्पर्क करा सकते थे।

यह तय हो गया कि 7 जुलाई, 1912 को सायंकाल रोथेन्स्टाइन अपने घर पर साहित्यिक मित्रों के एक दल को आमंत्रित करेंगे और डब्ल्यू. बी. येट्स उस बैठक में **गीतांजलि** की कविताओं का पाठ करेंगे। उस दल में हेनरी नेविन्सन, अमरीकी कवि एजरापौंड, मे सिनक्लैर और सी. एफ. एंड्रूज भी शामिल थे। यह कार्यक्रम पूर्ण रूप से सफल रहा। श्रोताओं के उस चुने हुए दल ने कविताएं तल्लीन होकर सुनीं और उनकी उत्कृष्टता से उनके हृदय मुग्ध हो गए। इस सराहना से रवीन्द्रनाथ ठाकुर तुरन्त ही इस युग के एक महानतम कवि मान लिए गए।

अगले दिन सराहना के पत्र आए। सी. एफ. एण्ड्रूज के पत्र में लिखा था: "इतनी सहज अंग्रेजी का निरन्तर मंडराता वह स्वरमाधुर्य, बचपन की सुन्दर ध्वनियों की तरह अपने रस में मुझे बहा ले गया।"[1] उन्होंने स्वीकार किया कि "रवीन्द्रनाथ के काव्य की नई मदिरा ने मुझे उन्मत्त कर दिया है।"

एण्ड्रूज जो भारत में 'दीनबंधु' के नाम से अधिक विख्यात हुए, पादरी और पंजाब में कार्य किया करते थे। रवीन्द्रनाथ की कविताओं के अंग्रेजी में अनूदित कुछ छिटपुट अंश पढ़कर वे उनकी ओर आकर्षित हुए थे। रोथेन्स्टाइन के घर की इस बैठक से इन दो व्यक्तियों को निकट आने और एक-दूसरे को गहराई से समझने का अवसर मिला। इसका फल यह हुआ कि दोनों में एक-दूसरे के लिए आदर और प्रेम की गहरी भावना जाग गई, जिसने उनकी

---

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : मान व ऐजिस आफ टाइम, लन्दन में पिता के साथ

आजीवन मैत्री को जन्म दिया। एण्ड्रूज के प्रति अपने हार्दिक आदर के प्रतीक-स्वरूप, रवीन्द्रनाथ ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक **साधना**, जिसका उप-शीर्षक 'रिएलाइजेशन आफ लाइफ' था, और जो इस घटना के बाद ही 1913 में प्रकाशित हुई, उन्हें समर्पित की।

यह चीज विचारणीय है कि रवीन्द्रनाथ की कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद ने उनके प्रतिष्ठित अंग्रेजी श्रोताओं के मनों पर इतना गहरा प्रभाव आखिर क्यों डाला। इसका सब से विश्वसनीय उत्तर हमें सम्भवतः उन प्रतिक्रियाओं से मिलेगा जो इस ऐतिहासिक बैठक में भाग लेनेवाले व्यक्तियों ने व्यक्त कीं।

अगले दिन ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर को लिखे रुहराना के अपने पत्र में सिनक्लैर ने कहा : "केवल यही नहीं कि इनमें परम सौंदर्य है, काव्य के रूप में ये परिपूर्ण हैं, बल्कि इन्होंने मुझे सदा के लिए वह दिव्य तत्व भेंट किया है जिसे मैं कुछ क्षणों के लिए ही अतिदुःखदायी अनिश्चितता के साथ पा सकती हूं।"

उन्होंने आगे कहा, "आपने अंग्रेजी में ऐसी चीजें रखी हैं जिन्हें अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य भाषा में कभी देखने की कतई आशा नहीं है।"

डब्ल्यू. बी. येट्स ने इस पुस्तक की जो भूमिका लिखी उससे ऐसा लगता है कि उनके लिए जो चीज मार्मिक रही वह एक विरोधाभास था। रवीन्द्रनाथ मूलतः संत पुरुष थे। परन्तु यूरोपीय संतों की रचनाओं ने, नवजागरण से ही, सांस्कृतिक क्षेत्र के व्यक्तियों का ध्यान खींचना बन्द कर दिया था, क्योंकि उनके कठोर वैराग्य का सुन्दर चीजों से कोई सरोकार नहीं होता। पर यहां एक विरोधाभास था। रवीन्द्रनाथ, अंतःकरण से संत होते हुए भी, जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी थे। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि ये रचनाएं न केवल उन लोगों के जटिल मन तक के लिए ईश्वर-प्रेम को एक वास्तविकता बना देती हैं, बल्कि धर्मनिष्ठा की भावनाओं को, ऊपर उठा कर, 'रेत और धूप को चित्रित करनेवाले चित्रकार के मनोभाव की तरह अत्यधिक तीव्र' कर देती हैं। धर्मनिष्ठा और कला का यह संगम ही येट्स जैसे लोगों को, जो पाश्चात्य संस्कृति के जटिल वातावरण में पले हैं, यह अनुभूति देता है कि अनजाने, उन्होंने भी कुछ क्षणों में ईश्वर से प्रेम किया था। उनके शब्द हू-ब-हू इस प्रकार हैं :

"हम यह नहीं जानते थे कि हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, ज्यादा-से-ज्यादा यह हो सकता है कि उसमें हमारा विश्वास हो। फिर भी, अपने जीवन पर

पीछे दृष्टि डालने पर, जंगलों की पगडंडियों की अपनी खोज में, पहाड़ों के निर्जन स्थलों के अपने आनन्द में, उस रहस्यमय दावे में जो अपनी प्रिय नारी पर व्यर्थ हमने किया है, हमें इस मायावी माधुर्य को पैदा करनेवाली भावना का पता लगता है।''

अनुवाद गद्य में किए गए थे। अतः मूल के लय और छंद के सौन्दर्य को वे संप्रेषित नहीं कर सकते थे। दूसरे शब्दों में, उनका स्वरमाधुर्य उन लोगों को नहीं मिला। अंततः ये काव्य के गौण भाग हैं। दूसरी ओर, गद्य अनुवाद में विचार को, मूल की सूक्ष्म छायाओं और ध्वनियों सहित, संप्रेषित करने की ज्यादा अच्छी गुंजाइश रहती है। गद्य अनुवादों की मुक्त हृदय से सराहना हुई, यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि इनका सफलतापूर्वक संप्रेषण हुआ था।

जिस चीज ने श्रोताओं के मन पर इतना नाटकीय प्रभाव डाला वह प्रथम तो इन कविताओं का आंतरिक साहित्यिक वैशिष्ट्य था। दूसरे, जैसा कि मे सिनक्लैर ने बताया, इनसे जिस प्रकार का साहित्यिक रस मिला वह पाश्चात्य साहित्य में बिलकुल नई चीज थी। नवीनता ने इसके जादू को और बढ़ा दिया। तीसरे, सब से महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इससे उनके पाश्चात्य श्रोताओं के हृदय का, जो अपनी जीवन-प्रणाली के कारण धर्मनिष्ठा की भावना से दूर हो गये थे, एक सोया तार जाग उठा। इन कविताओं द्वारा उन्होंने यह समझा कि धर्मनिष्ठा से प्रेरित भावनाएं, रवीन्द्रनाथ-जैसी किसी साहित्यिक प्रतिभा की कला से सज्जित होने पर, कलाकृतियों की तरह ही उनके हृदय को गद्गद् कर सकती है और साथ ही उन्हें ईश्वर के जीवन्त सान्निध्य में ला सकती हैं।

इसके बाद तो हलचल एकदम तेज हो गई। रवीन्द्रनाथ के नए मित्रों ने उनके सम्मान में एक स्वागत-समारोह आयोजित करने का निश्चय किया। तीन दिन बाद ही, 10 जुलाई, 1912 को, वे लोग ट्रोकेडेरो रेस्टोरां में एकत्रित हुए। वहां येट्स ने सुप्रतिष्ठित साहित्यकारों को उनका परिचय दिया। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के कुछ अनुवादों का भी पाठ किया और अन्त में उनकी विशेषताओं पर अपनी राय जाहिर की। उन्होंने कहा: ''इनकी सभी कविताओं का एक ही विषय है : ईश्वर-प्रेम. . . . . रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रकृति प्रेमी हैं, इनकी कविताएं अत्यन्त सुन्दर इंगितों से भरी हैं जो पैनी निरीक्षण-शक्ति और गहरे प्रेम के परिचायक हैं। इनकी उंग-

लियां माला के मनकों पर नहीं, फूलों पर फिरती हैं। इस पुस्तक में निरंतर प्रचुर सौन्दर्य है।''

रवीन्द्रनाथ ने अपने उत्तर में एक बात कही जिसका विशेष महत्त्व है। उन्होंने कहा: ''पूर्व-पूर्व है और पश्चिम-पश्चिम--भगवान न करे कि स्थिति कुछ और हो। पर दोनों को सौहार्द शान्ति और आपसी समझ-बूझ से मिलना होगा। अपनी विभिन्नता के कारण इनका मिलन और भी फल-दायी होगा। इससे मानवता की समान वेदी पर दोनों का पावन पाणिग्रहण होगा।''

ऐसा लगता है कि अपने जीवन की इस मंजिल पर वे यह महसूस करने लगे थे कि मानवता के हित के लिए इन दोनों संस्कृतियों का मिलन होना चाहिए। एक ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी में विशेष प्रगति कर मानव की भौतिक समृद्धि का निर्माण किया। दूसरी आध्यात्मिक साधना में विशेष प्रगति कर उन मूल्यों पर पहुंची जिनसे मानव हृदय को शान्ति का स्पर्श मिल सकता है। एक संतुलित जीवन-दृष्टि प्राप्त करने के लिए इन्हें परस्पर मिलना चाहिए और पूरक भूमिका अदा करनी चाहिए। यह अह-सास बाद में उनमें इतना तेज हो गया कि वे इस संदेश को संसार के सुदूर कोनों तक पहुंचाने के कार्य में गम्भीरता से लग गए। अगले अध्याय में हम इस विषय पर विस्तार से विचार कर सकेंगे।

ट्रोकेडेरो रेस्टोरां की बैठक के बाद रवीन्द्रनाथ के मित्रों ने इस पुस्तक को खुद प्रकाशित करने का फैसला किया। इंडिया सोसाइटी ने उनके काम का जिम्मा लिया और यह निश्चय हुआ कि इसकी कुछ प्रतियां केवल निजी वितरण के लिए छापी जाएं। पुस्तक की भूमिका लिखने का कार्य येट्स के सिर आया, जिसमें उन्होंने बड़े उत्साह से उसके गुणों का विवेचन किया।

इस बीच रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने पुत्र और पुत्रवधू के साथ कुछ दिनों के लिए अमरीका की यात्रा पर चले गए। उन्हें न्यूयार्क, शिकागो, राचेस्टर, बोस्टन और अर्बाना जाना था। ऐसा लगता है कि उनकी ख्याति उनसे पहले ही अमरीका पहुंच गई थी। विभिन्न विद्वत् संस्थानों से उन्हें व्याख्यान देने के निमंत्रण मिलने लगे। राचेस्टर में उन्हें फैडरेशन आफ रिलिजियस लिब-रल्स की कांग्रेस में भाषण देने को कहा गया। शिकागो विश्वविद्यालय ने उन्हें एक व्याख्यान-माला के लिए निमंत्रण किया। उसके बाद हार्वर्ड और न्यूयार्क

से भी इसी तरह के निमंत्रण आए। अर्बाना का तो उनपर खास हक था, क्योंकि उनका पुत्र वहां के इलनॉइस विश्वविद्यालय का स्नातक था। इस तरह सर्दी ज्यादातर उन्होंने वहीं बिताई।

अमरीका का अपना यात्रा-कार्यक्रम पूरा कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर अप्रैल, 1913 में लन्दन वापस आ गए। जून में वे इलाज के लिए अस्पताल में दाखिल हुए और वहां से छुट्टी मिलने पर 4 सितम्बर, 1913 को स्वदेश के लिए रवाना हो गए।

अंग्रेजी **गीतांजलि** 1912 के अन्त में प्रकाशित हो गई थी।[1] उसके द्वारा पश्चिम के लोग उनसे परिचित हो गए। उसे वैसी ही हार्दिक सराहना मिली जैसी कि पहले रोथेन्स्टाइन के घर में अंग्रेज मित्रों के छोटे से दल से मिली थी। मान्यता भी तुरन्त मिली। नवम्बर, 1913 में उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

इस अत्यन्त स्पृहणीय पुरस्कार के मिलने से, जो विश्व की एक महान-तम साहित्यिक विभूति के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मान्यता का द्योतक था, भारतवासी आश्चर्यचकित रह गए। स्वयं अपने लोगों द्वारा उनकी मान्यता कभी भी पूर्ण नहीं रही थी, उनके सदा कुछ विरोधी आलोचक भी रहे थे। पर लगता है, कम-से-कम उस समय, उनका विरोध शान्त हो गया। लोगों में आम-तौर पर बड़ा उल्लास था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उपलब्धि पर उन्हें गर्व था और उन्हें लगा कि इसके द्वारा उनकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा कुछ हद तक बढ़ी है।

अतः बंगाल के लोगों का मन कृतज्ञता की गहरी भावना से भर गया। जन-प्रतिनिधियों ने 23 नवम्बर, 1913 को शान्तिनिकेतन में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का निश्चय किया, क्योंकि उन दिनों वे वहीं रह रहे थे। कलकत्ता समाज के गण्य-मान्य व्यक्ति उनके अभिनन्दन के लिए वहां एकत्रित हुए। शान्तिनिकेतन में आम्रकुंज की छाया में सभा हुई।

पर इस समारोह का अन्त सुखद नहीं रहा। अभिनन्दन जब पढ़ा जा चुका तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसका उत्तर देने के लिए खड़े हुए। उनका स्वर विसंवादी था, जिससे हर किसी को आश्चर्य हुआ। किसी अज्ञात और प्रच्छन्न कारणवश, आत्मसंयम की उनकी शक्ति शिथिल हो गई लगती थी और

1. वह विलियम रोथेन्स्टाइन को समर्पित की गई थी। अंग्रेजी साहित्यकारों के सम्मुख उसे रखने में उनकी भूमिका को मान्यता देना ही, संभवतः इसका आशय था।

उनकी स्वाभाविक विनयशीलता जैसे उनसे छूट गई थी। अपने स्वाभाविक आचरण के विरुद्ध, उन्होंने अभिनन्दन के लिए जुटे अपने प्रशंसकों के लिए कुछ कठोर शब्द प्रयुक्त किए। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने देश-वासियों पर उन्हें रोष था, और वह इस अहसास से पैदा हुआ था कि वे स्वयं उनकी रचनाओं की विशेषता नहीं देख सके और वह दूसरों की आंखों से उन्हें दिखानी पड़ी। अपने कुछ देशवासियों द्वारा उनकी जो कड़ी आलोचना हुई थी, उससे शायद उन्हें पुराने द्रोह की भी याद आ गई थी।

उनके उत्तर के निम्न उद्धरण से शायद हमारे इस अनुमान की पुष्टि हो सकेगी:

"अपने देश के हाथों मुझे जो अपमान और अपयश भोगना पड़ा उसका परिमाण कोई कम नहीं था। अब तक मैंने उसे धैर्य से ही सहा है। इस सन्दर्भ में मुझे यह बात ठीक से समझ में नहीं आती कि सम्मान मुझे बाहर से क्यों मिला। पूर्वी तट पर बैठा मैं जब ईश्वर को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा था, तो यह नहीं जानता था कि उसे स्वीकार करने के लिए वह अपना दायां हाथ पश्चिमी तट पर फैलायेगा। उसकी कृपा का मुझे वरदान मिला यही मेरी सच्ची उपलब्धि है।

जो होना है हो। कारण कुछ भी रहा हो, यूरोप ने मुझे सम्मान की माला पहनाई है। यदि इसका मूल्य है तो वह उस देश के सांस्कृतिक क्षेत्र के लोगों के सौन्दर्य-बोध में है। हमारे देश के साथ उसका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। नोबेल पुरस्कार प्रदान करने से किसी रचना की साहित्यिक विशेषता या सुन्दरता बढ़ जाए, यह आवश्यक नहीं है।"[1]

---

1. प्रभातकुमार मुखोपाध्याय: रवीन्द्र जीवनी, खण्ड 2

11. भारत के आध्यात्मिक राजदूत

अंग्रेजी **गीतांजलि** का प्रकाशन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ का संकेत था। परिस्थितियों के आकस्मिक संयोग से, उन्हें अपनी कुछ कविताओं को अंग्रेजी में अनूदित करने के शुभ विचार की प्रेरणा हुई। परिवार के मित्र, विलियम रोथेन्स्टाइन के अनुग्रह से वे अंग्रेज साहित्यकारों के एक समूह के आगे पढ़ी गईं। उन अनूदित कविताओं की उत्कृष्टता ने उनके हृदय पर गहरा असर किया और उन्होंने उनकी पाण्डुलिपि को खुद प्रकाशित कराने का जिम्मा ले लिया। ताकि पश्चिम के लोग रवीन्द्रनाथ ठाकुर से परिचित हो सकें। इस पुस्तक के प्रकाशन ने साहित्य जगत में एक सनसनी पैदा कर दी और अगले साल ही यह साहित्य के नोबेल पुरस्कार के लिए चुन ली गई। उसके बाद उतनी ही तेजी से उन्हें अपने देश में मान्यता मिली। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उनकी उपलब्धि को मान्यता देते हुए उन्हें डी. लिट. की मानद डिग्री से विभूषित किया। फिर ब्रिटिश सरकार ने शीघ्र ही, सम्राट के जन्म-दिवस पर उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर अब तक ऐसे साहित्यकार रहे थे जिनकी ख्याति अपने देश की सीमा के बाहर नहीं पहुंची थी, क्योंकि उन्होंने स्वयं को बंगला में व्यक्त किया था जो भारत की मात्र एक प्रादेशिक भाषा थी। भाषा की बाधा उन्हें बाहरी दुनिया की नजर से छिपाए रखने में जबर्दस्त रुकावट थी। **गीतांजलि** के अंग्रेजी में प्रकाशन का फल यह हुआ कि बीच का वह पर्दा हट गया और वे बाहरी दुनिया की आंखों के सामने आ गए। पश्चिम के लोगों को उनमें विश्व की एक महानतम साहित्यिक विभूति मिली। साहित्य का नोबेल पुरस्कार देकर विश्व के सर्वोच्च निकाय ने, उनके साहित्यिक कृतित्व के गुणों का मूल्यांकन करते हुए, उन लोगों के निर्णय पर अपनी मंजूरी की मोहर लगा दी। परिणाम-स्वरूप, रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं अपनी योग्यता से एक विश्व-विभूति बन गए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपने जीवन के आरम्भ में अपने देश की विरासत पर हार्दिक गर्व था। बंगाली होने के नाते उन्होंने यह उत्कट इच्छा व्यक्त की

थी कि बंगाल को विश्व-संगीत के सहगान में भाग लेना चाहिए और इस तरह उसे एक मधुर स्वर प्रदान करना चाहिए। भारतीय होने के नाते, वे तीव्रता के साथ यह महसूस करते थे कि किसी को भारत की आवाज, प्राचीन काल की तरह, एक बार फिर इस देश की भौगोलिक सीमाओं के बाहर पहुंचानी चाहिए। अपनी खुद की क्षमताओं को विकसित कर और अपने खुद के साहित्य को समृद्ध कर, क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं को ये दोनों इच्छाएं पूरी करने के योग्य नहीं बना लिया था?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक विश्व-विभूति के रूप में उभरना और उनकी साहित्यिक उपलब्धि ऐसी चीजें हैं जिनके कारण वे भारत के आध्यात्मिक राजदूत की भूमिका बहुत अच्छी तरह ग्रहण कर सकते हैं—यह विचार कम-से-कम भारत के उस समय के एक बड़े राजनीतिक नेता के दिमाग में जरूर आया। महात्मा गांधी का तब तक भारत के राजनीतिक मंच पर प्रवेश नहीं हुआ था। महाराष्ट्र नेता बालगंगाधर तिलक, जो अपने त्याग, विद्वत्ता और ज्वलन्त देशप्रेम के कारण भारत-भर में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे, उन दिनों की शायद सब से बड़ी राजनीतिक हस्ती थे। अनुमान है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं अपने अंतःकरण में यह भूमिका ग्रहण करने का आह्वान अनुभव कर रहे थे। अतः, यह जानकर कि तिलक-जैसा महान व्यक्ति भी स्वतंत्र रूप से इसी तरह के विचार रखता है, उन्हें बहुत सन्तोष हुआ होगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को धुंधला-सा यह संदेह था कि तिलक शायद यह चाहते हैं कि मैं विदेशों का दौरा ऐसे भाषण देने के लिए करूं जिनमें राजनीति का पुट हो। परन्तु इस मुद्दे पर स्वयं तिलक से स्पष्टीकरण प्राप्त कर उनके मन से शीघ्र ही यह भ्रम मिट गया। तिलक ने इस विचार को किस लिए अपना आशीर्वाद दिया, इसका वर्णन रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस प्रकार करते हैं :

> "लोकमान्य तिलक तब जीवित थे। उन्होंने एक संदेशवाहक के हाथों मुझे पचास हजार रुपये भेजे और यह इच्छा व्यक्त की कि मैं यूरोप की यात्रा करूं। असहयोग आन्दोलन तब तक शुरू नहीं हुआ था, परन्तु राजनीतिक आन्दोलन में तूफान की-सी तेजी आ गई थी। उन्होंने मुझे बताया कि मैं अपने-आपको राजनीतिक मामलों में फांसूं—यह उनकी इच्छा नहीं है। भारत की ओर से जो संदेश मैं ले जा सकता हूं वही मेरे लिए उचित कार्य होगा और

इसी तरह के कार्य द्वारा मैं भारत की सच्ची सेवा कर सकता हूं।"[1]

लोकमान्य तिलक में पहले से ही यह देख सकने की अन्तर्दृष्टि थी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जिनका राजनीति की ओर झुकाव नहीं था, भारत में उस समय चल रहे स्वतन्त्रता आंदोलन की सफलता के लिए स्थिति तैयार करने को एक अधिक प्रभावशाली नैतिक शक्ति सिद्ध होंगे। भारत के आध्यात्मिक राजदूत के रूप में, वे भारत की आवाज दुनिया-भर में पहुंचा सकते थे और अन्य देशों के लोगों को भारत की सांस्कृतिक विरासत से परिचित कर वे भारत के लिए जबर्दस्त सद्भावना पैदा कर सकते थे। यह ठीक उस तरह की भूमिका थी जिसके लिए कवि वे बने थे। उनके संवेदनशील हृदय और प्रतिभाशाली बुद्धि ने भारतीय संस्कृति के सभी अच्छे तत्त्व ले लिए थे और, उनके सोचने का ढंग मौलिक होने के कारण, वे राष्ट्रीय संस्कृति को आत्मसात् कर, उसे अपने जीवन का अंग बना कर, उसे एक नया रूप दे सके थे, जो पूर्णतया उनका योगदान था। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारत के प्रवक्ता और उसकी संस्कृति के जीवन्त प्रतीक की हैसियत से कार्य कर सकनेवाली सबसे बड़ी विभूति के रूप में उभरे।

सौभाग्य से रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भ्रमण से प्रेम था। उनके स्वभाव में यह विशेषता निश्चय ही अपने पिता से आई होगी। हमें मालूम है कि महर्षि को भ्रमण प्रिय था और उन्होंने भारत के सुदूर स्थानों की यात्रा की थी। वे एक बार जहाज से श्रीलंका भी गए थे। जिन दिनों वे कलकत्ता के अपने पुश्तैनी घर में रहते थे तो नियम से प्रति वर्ष शरदकाल कहीं बाहर बिताया करते थे। सक्रिय जीवन से अवकाश ले लेने के बाद वे अपना अधिकतर समय हिमालय की तराई के स्थानों में बिताते थे। जरावस्था के कारण यात्रा में असमर्थ हो जाने पर ही वे कलकत्ता के गतिहीन जीवन के लिए राजी हुए थे। बचपन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने घर में बंदी जीवन बिताने का दण्ड भोगा था, इसलिए घूमने-फिरने का उनमें भी बहुत शौक विकसित हो गया। शायद इसी कारण उन्होंने अपनी पारिवारिक जागीरों के प्रबन्ध का भार सम्भाला, जिसके लिए उन्हें न केवल उत्तर बंगाल बल्कि उड़ीसा के भी देहाती इलाकों की प्रायः यात्रा करनी होती थी। भारत के स्वयं-नियुक्त प्रवक्ता को अपनी

1. पश्चिम यात्रीर डायरी

भूमिका में उन्होंने विदेशों की जो अनेक यात्राएं की उनकी क्लांति और थकावट को कम करने में घूमने-फिरने की अपनी इस चसक से उन्हें जरूर बड़ी मदद मिली होगी।

विश्व के विभिन्न भागों की अपनी यात्राओं में, जो अधिकतर व्याख्यान देने के निमन्त्रणों पर की गईं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपना एक निजी तरीका अपनाया। अपने कुछ युवा मित्रों और प्रशंसकों को वे सदा अपने साथ ले जाते; विदेश के अपने अनुभवों को वे अपनी डायरी या अपने पत्रों में अंकित करते रहते। इस तरह हर विदेश-यात्रा के बहुमूल्य अनुभवों में उनके युवा मित्रों का प्रवेश हो गया, जिनसे अन्यथा वे बिलकुल वंचित रह जाते। दूसरी रीति के कारण हमें इस बात का विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध है कि विदेश में वे जिन लोगों और संस्कृतियों के सम्पर्क में आए उनकी उनके मन पर किस तरह की प्रतिक्रिया हुई।

अंग्रेजी **गीतांजलि** के प्रकाशन और फिर शीघ्र ही साहित्य के नोबेल पुरस्कार के लिए उसके चुने जाने से उनकी इतनी अधिक ख्याति हो गई थी कि निमन्त्रण तेजी से आने लगे। प्रथम विश्व युद्ध तक, जो अगस्त, 1914 में आरम्भ हुआ और जिसने सारी दुनिया को अपनी लपेट में ले लिया था, उन्हें पूरी तरह नहीं रोक सका। जापान और अमरीका यद्यपि दोनों इस युद्ध में व्यस्त हो गए थे, पर युद्ध के वास्तविक क्षेत्र से अपनी भौगोलिक दूरी के कारण वे सांस्कृतिक गतिविधियों पर थोड़ा-बहुत ध्यान दे सकते थे। 1916 के आरम्भ में इन दोनों देशों से निमन्त्रण आ गए।

जापानी कवि कावागुची ने जापान से निमन्त्रण भेजा। अमरीका के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कोई सर्वथा अपरिचित व्यक्ति नहीं थे। 1912 में, **गीतांजलि** के प्रकाशन से भी पहले, वे वहां की यात्रा कर चुके थे। फिर भी उनकी ख्याति उनसे पहले वहां पहुंच जाने के कारण, उन्हें विभिन्न विश्व-विद्यालयों से व्याख्यान देने के निमन्त्रण मिले। इस तरह बनी प्रतिष्ठा से ही मेजर पोंड को रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्मुख, व्यावसायिक प्रस्ताव के रूप में, अमरीका की एक व्यापक व्याख्यान-यात्रा का कार्यक्रम रखने की प्रेरणा मिली होगी। जैसी कि स्वाभाविक था, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसे स्वीकार कर लिया, क्योंकि इससे उन्हें पाश्चात्य संस्कृति के इस नए केन्द्र में अपने देश की चर्चा करने का अवसर मिलता था।

यूरोप के रास्ते यात्रा करने का उन दिनों प्रश्न ही नहीं उठता था,

क्योंकि विश्व के उस भाग में समुद्रों पर से जाने वाला सार्वजनिक मार्ग तब जर्मन पनडुब्बियों और ब्रिटिश जहाजों के बीच चल रहे निर्मम युद्ध का क्षेत्र बना हुआ था। अत: जाने और वापस आने, दोनों के लिए प्रशांत महासागर के रस्ते यात्रा की व्यवस्था की गई। पहले जापान की यात्रा करनी थी और फिर उस पार अमरीका जाना था। सफर के उनके साथियों में सी. एफ. एण्ड्रूज, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक और अंग्रेजी मित्र विली पियर्सन और उन दिनों के एक उदीयमान कलाकार मुकुल दे थे।

जापान में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कोबी पर जहाज से उतरे और फिर ओसाका के लिए रवाना हुए। इन दोनों स्थानों पर कुछ समय ठहर कर वे टोकियो गए। वहां वे प्रसिद्ध जापानी कलाकार तैक्कान के अतिथि बने जो उनके परिवार के मित्र थे। शहर में जब कई स्वागत-समारोह और व्याख्यान हो चुके तो देहाती इलाके के एकान्त में उनके रहने की व्यवस्था की गई, ताकि वे वहां जापान की देशी संस्कृति के निकट सम्पर्क में आ सकें।

जापान में तीन महीने रहने के बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर अमरीका के लिए रवाना हुए। परन्तु एण्ड्रूज वहां उनसे विदा ले भारत वापस आ गए। इस तरफ शेष यात्रा में पियर्सन और मुकुल दे ही उनके साथ रहे।

मेजर पॉन्ड ने उनके लिए व्याख्यानों के एक लम्बे और कड़े कार्यक्रम की व्यवस्था कर रखी थी, जिसमें एक तट से दूसरे तट तक पूरे देश के बहुत-से स्थान आ जाते थे। उसमें छोटे-छोटे पड़ावों वाली लम्बी रेल-यात्राएं शामिल थीं। काफी समय तक तो वे उस कार्यक्रम पर डटे रहे, पर बाद में उससे उनके शरीर पर इतना जोर पड़ने लगा कि बाकी का कार्यक्रम उन्हें रद्द करना पड़ा। इस बीच उन्होंने सान फ्रांसिस्को, लास एंजिल्स, शिकागो, न्यूयार्क और बोस्टन का दौरा कर लिया था। प्रशांत सागर के रास्ते स्वदेश लौटते हुए वे कुछ समय जापान में रुके। यह यात्रा मई, 1916 में आरम्भ हुई थी और मार्च, 1917 में समाप्त हो गई।

ऐसा लगता है कि अपनी पहली यात्रा में जापान की जो छाप रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मन पर पड़ी वह सुखद थी। देहाती इलाके में जापानियों के साथ घनिष्ठ रूप से रहने का उन्हें अवसर मिला था। इसलिए वे उन लोगों की स्वभावगत विशेषताओं को समझ सके। उनके पैने सौन्दर्य-बोध की उन्होंने प्रशंसा की। जापान पर्वतमालाओं और द्रुतगामी जलधाराओं का देश है, सागर की लहरें

1. जापान यात्री, 13

उसके विस्तृत तटों पर पछाड़ें खाती हैं और हिममंडित फूजीयामा पर्वत उनके प्रहरी की तरह खड़ा है। अतः वहां के लोगों का सौंदर्य-बोध, स्वभावतः, बहुत विकसित है। यह बात तो खैर समझी जा सकती थी। पर वह किस चरम सीमा तक विकसित है, यह उन्हें पहले पता न था। इसका अन्दाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि वे लोग सौन्दर्य की अपनी चेतना की तुष्टि के लिए आवश्यक जरूरतें तक त्यागने के लिए तैयार रहते हैं। आइए, हम देखें कि स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस विषय पर क्या कहते हैं :

"हमने देखा है कि एक इन्द्रिय की क्षमता को क्षति पहुंचा कर अन्य इन्द्रिय की क्षमता बढ़ाई जा सकती है। सौन्दर्य-बोध और भावना दोनों हृदय के विषय हैं। यहां आने के बाद से ही जिस चीज ने मुझे आकर्षित किया वह यह है: भावना और उसकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र को सीमित करके सौन्दर्य-बोध और उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता को बहुत अधिक बढ़ा लेना भी सम्भव है। अपने देश में और अन्यत्र मुझे भावना की बहुलता के बहुत उदाहरण मिले हैं। पर यहां उसका अभाव है। सौन्दर्य के उपभोग का प्रमाण यहां मैं इतने प्रचुर और व्यापक रूप में पाता हूं कि यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक प्रक्रिया ऐसी है जो हमारी ठीक से समझ में नहीं आती। बहुत गरीब आदमी तक यहां अपना नित्य का आहार छोड़कर भी एक पैनी के फूल खरीद सकता है। इनकी आंखों की भूख पेट की भूख से कम तेज नहीं है।"

जापान में जिस चीज ने उन पर गहरा प्रभाव डाला वह जापानी नृत्य का उच्च कोटि का लालित्य था। वह उनकी अभिरुचि के बिलकुल अनुरूप था। उन्हें लगा कि वह अत्यन्त शालीन है, जिससे उसका आकर्षण सौन्दर्य-चेतना तक ही सीमित है। जापानी नृत्य की प्रशंसा में उन्होंने कहा :

"एक दिन मैं जापानी नृत्य का एक प्रदर्शन देखने गया। मुझे लगा, मानों यह देह की गतियों का संगीत है। यह उस संगीत के तुल्य है जो हमारे देश में वीणा-वादन से उत्पन्न किया जाता है। दो इकाइयों के बीच यहां कोई विच्छेद नहीं है, विविध भंगिमाओं के बीच कोई अंतराल नहीं है, और न ही कोई ऐसा आभास मिलता है कि भागों को परस्पर जोड़ा गया है। समूची देह पुष्पित लता की तरह झूमती लगती है और सौन्दर्य के फूल बरसाती है। जापानी नृत्य विशुद्ध नृत्य है। इसकी वेशभूषा ऐसी होती है कि शरीर

1. जापान यात्री 14
2. जापान यात्री 1

तनिक भी नग्न नहीं दिखता। अन्य देशों के नृत्यों में देह की ललित गतियों के साथ काम-आकर्षण भी मिला रहता है। पर इस नृत्य में वासना का संकेत तक ढूंढा नहीं जा सकता।"

अमरीका में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विविध विषयों पर अनेक व्याख्यान दिए। वे शान्तिनिकेतन के अपने स्कूल के बारे में बोले, कला के बारे में बोले और शुद्ध आध्यात्मिक विषय पर भी बोले, जिसमें उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सृजनशीलता द्वारा मनुष्य अपने निजी क्षितिज का विस्तार कर सकता है और एक दूसरा जन्म ले सकता है। वहां उन्होंने जो व्याख्यान दिए वे पुस्तक रूप में संकलित हो कर "पर्सनेलटी" शीर्षक से प्रकाशित हुए। वह पुस्तक सी. एफ. एण्ड्रूज को समर्पित की गई जो अब उनके घनिष्ठ मित्र हो गए थे।

यात्रा का अगला कार्यक्रम मई, 1920 में शुरू हुआ और जुलाई, 1921 तक चला। यह बहुत ही व्यस्त कार्यक्रम था जिसमें अन्य स्थानों के अलावा ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन और आस्ट्रिया की यात्रा शामिल थी। इस बार उनके साथ उनका पुत्र और पुत्रवधू थी। यात्रा के कुछ भाग में पियर्सन उनके सचिव के रूप में साथ रहे।

वे पहले ब्रिटेन गए। 1912 के उत्साहपूर्ण स्वागत के विपरीत, इस बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्वागत ठंडा रहा। इसका कारण ढूंढने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं थी। हाल ही में उन्होंने, जलियांवाला बाग में हुए अपने देशवासियों के नर-संहार के विरोध में, सम्राट द्वारा दी गई 'सर' की उपाधि लौटा दी थी। अंग्रेज औपचारिक रूप से बहुत शिष्ट होते हैं, और अलगाव का अपना बाहरी खोल उतार सकने पर वे बहुत ही हार्दिक हो सकते हैं। परन्तु जब किसी व्यवहार में राष्ट्रीय हित उलझा हो तो वे उस पर निष्पक्ष दृष्टिकोण से निर्णय नहीं ले सकते। स्पष्ट था कि 'सर' की उपाधि के परित्याग से अंग्रेजों का मन उनके विरुद्ध हो गया था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर फ्रांस के रास्ते इंग्लैंड से अमरीका के लिए रवाना हुए और अक्तूबर, 1920 के अन्त में वहां पहुंच गए। इंग्लैंड में उनका स्वागत जिस ठंडेपन से हुआ उसके लिए तो वे तैयार थे, पर अमरीका में भी उसी तरह के स्वागत की उन्होंने आशा नहीं की थी। अप्रत्याशित होने से उनके दिल को उससे धक्का लगा। वह कष्टप्रद अनुभव उनके हृदय में कसकता रहा और उनके विवरणों में वह इस प्रकार उद्वेलित हुआ :

"साठवें वर्ष में कदम रखते ही, मैं सिर पर भारी दायित्व लिए एक बार अमरीका आया। यूरोप में युद्ध समाप्त हो चुका था; फिर भी उसका उन्माद अमरीका की सुर्ख आंखों द्वारा इस कदर महसूस हुआ जितना कि यूरोप में नहीं हुआ था। इसके अलावा, अंग्रेजों ने तब कुटिल तरीकों से उसके कानों पर कब्जा कर रखा था। . . .वे अमरीकी लोकतंत्र को अपनी खुद की समस्याओं पर ही सोचने को विवश कर रहे थे। उनका प्रचार-यन्त्र मेरे विरुद्ध चालू था। अंग्रेजों को डर था कि मैं उनकी बुराई कर सकता हूं, क्योंकि जलियांवाला बाग कांड हो चुका था।"[1]

अमरीका तब प्रौद्योगिक कुशलता में पश्चिमी देशों का नेतृत्व कर रहा था। विराट कारखानों में उपभोग की वस्तुएं इतने बड़े पैमाने पर बननी शुरू हो गई थीं जैसी कि पहले कभी नहीं बनी थीं। द्रुत गति से हो रहे इस प्रौद्योगिक विकास से समाज के ढांचे और लोगों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ गया। लोग एक संकुचित जीवन जीने को बाध्य हो गए, जिसमें उत्पादन ही वह शक्ति है जो हर चीज पर नियंत्रण रखती है। इसलिए लोगों का जीवन चीजों के निर्माण की प्रक्रिया और उनके उपयोग के गिर्द केंद्रित है। भीमकाय मशीनें स्वाभाविक जरूरतों से बहुत अधिक चीजें पैदा करती हैं। और इसलिए लोगों को अपनी जरूरतें कृत्रिम रूप से बहुत अधिक बढ़ाने को बाध्य किया जाता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भय था कि इस पृष्ठभूमि में इस तरह का अत्यधिक प्रौद्योगिक विकास मनुष्य के गिर्द एक तरह का खोल बना देता है और उसे उसके परिवेश से अलग कर देता है। उनका विचार था कि इसके परिणामस्वरूप, मनुष्य भौतिक सम्पदा इकट्ठी करता जाता है, पर उसकी भारी कीमत उसे अपने आत्मिक कल्याण के त्याग से चुकानी पड़ती है। अवकाश, जो सांस्कृतिक और आत्मिक गतिविधि में लग सकता था, मशीन के दानव का शिकार हो जाता है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए, वे एक रूपक का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य अपने गिर्द स्वयं एक पिंजरा बना लेता है जो सोने का हो सकता है, पर फिर भी बाहर की दुनिया से उसका सम्पर्क खत्म कर देता है।

इस विचार को और आगे बढ़ाने के लिए वे घोंसले और पिंजरे की दो परस्पर-विरोधी अभिव्यक्तियों का प्रयोग करते हैं। पक्षी को विश्राम के

---

1. पश्चिम यात्री डायरी

लिए एक घर जुटाने को घोंसले की जरूरत होती है, पर जहां उसे सुख मिलता है वह प्राकृतिक तत्त्व तो आकाश ही है। घोंसला आकाश में उसकी उड़ान को रोकता नहीं है, बल्कि विश्राम के लिए एक आश्रय प्रदान कर उसमें सहायक होता है। पर, जब वह पिंजरे में बन्द हो जाता है तो रहने के लिए तो निःसन्देह उसे ज्यादा अच्छी जगह मिल जाती है, पर आकाश में घूमने की अपनी स्वतंत्रता वह खो देता है। इसी प्रकार, मनुष्य को आर्थिक सुरक्षा और आराम देने के लिए औद्योगिक प्रगति कुछ हद तक जरूरी है। लेकिन दूसरी ओर, यदि प्रौद्योगिक विकास भौतिक स्तर पर उसकी जरूरतों को खूब बढ़ाता हुआ बेहद बढ़ता जाता है, तो वह अपने-आपको पिंजरे में बन्द कर लेता है।

इस चीज को, जो उनकी दृष्टि में चरम त्रासदी है, वे कितनी तीव्रता से महसूस करते हैं, इसका अन्दाजा उनके निम्न कथन से लगाया जा सकता है:

> "हमारी अत्यन्त जटिल आधुनिक परिस्थिति में यांत्रिक शक्तियां इतनी कुशलता से संगठित हैं कि जो माल पैदा किया जाता है वह मनुष्य की चीजों को चुनने और आत्मसात् करने की क्षमता की अपेक्षा—जिसके द्वारा वह उन्हें सहज बनाकर अपनी प्रकृति और जरूरतों के साथ उनका तालमेल बिठाता है—बहुत अधिक बढ़ता जाता है"
>
> "चीजों की इस तरह की असंयत अतिवृद्धि, उष्ण प्रदेशों में उग आनेवाली बेशुमार जंगली वनस्पतियों की तरह, मनुष्य की घेराबंदी कर देती है। घोंसला सरल है; उसका आकाश के साथ पुराना सम्बन्ध है। पिंजरा जटिल और महंगा है; जो-कुछ बाहर है उससे वह स्वयं बहुत अधिक बहिष्कृत है। मनुष्य तेजी से अपना पिंजरा तैयार कर रहा है और इस दैत्याकार वस्तु का, जिसे वह अपने चारों तरफ लिपटने दे रहा है, उत्तरोत्तर आश्रित होता जा रहा है।"[1]

1920 की अमरीका की अपनी यात्रा में यह विचार ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ... में सबसे ऊपर था। वे यह महसूस करते थे कि प्रौद्योगिक कुशलता और

1 रिलिजन ग्राफ मैन, दा टीचर

भौतिक समृद्धि के बहुत अधिक लोभ का परिणाम यह होता है कि प्रेम, स्नेह और-सौन्दर्य-रसास्वादन जैसी अच्छी चीजें, जिनसे जीवन आनन्ददायी बनता है, जीवन से गायब हो जाती हैं। इससे उन्हें अपनी एक कविता के लिए विषय मिला, जो इस यात्रा से लौटने के बाद ही प्रकाशित शिशु भोलानाथ नाम के उनके काव्य-संग्रह में संकलित है।

इस कविता में वे यह कल्पना करते हैं कि प्रकृति को शासित करनेवाली शक्ति लाभ के प्रति पूर्णतया निरीह है। अपनी सृजनात्मक प्रेरणा को तुष्ट करने की उत्सुकता में वह उस सब को नष्ट कर देती है जो जीर्ण और क्षीण हो चुका है, ताकि प्रकृति को जीवन के नये ज्वार के लिए तैयार किया जा सके। हेमन्ती हवा की तरह, वह पुनः सृजन के लिए विनाश करती है। परन्तु अपनी प्रौद्योगिक कुशलता पर गर्व करने वाला वैज्ञानिक मनुष्य, कंजूस की तरह, भौतिक सम्पत्ति का अंबार लगाने के लिए प्रकृति का शोषण करता है और इस प्रक्रिया के दौरान जीवन के पत्रों से अपने को अलग कर लेता है तथा अपने अनुचरों को कोल्हू के बैल के-से जीवन का दास बना देता है।[1]

परन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अमरीका यात्रा निष्फल नहीं रही। वहां उनका परिचय लेनर्ड एल्महर्स्ट नाम के एक आदर्शवादी अंग्रेज नवयुवक से हुआ। वह कृषिशास्त्री था और कृषि के उच्च प्रशिक्षण के लिए अमरीका आया हुआ था। डोरथी व्हिटनी स्ट्रेट नाम की एक अमरीकी महिला से, जो धनी परिवार की थी, उसकी सगाई हो चुकी थी। वे दोनों रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े प्रशंसक हो गए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एल्महर्स्ट की घनिष्ठता इतनी बढ़ गई कि उसने, बाद में, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की देखरेख में ग्राम-पुनर्निर्माण के प्रयोग चलाने के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं। इस विषय की विस्तार से चर्चा करने का हमें बाद में अवसर मिलेगा।

अमरीका से लौटने के बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यूरोप महाद्वीप का एक व्यापक दौरा किया। यात्रा-कार्यक्रम में, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन और आस्ट्रिया शामिल थे। हर कहीं उनका बड़े जोश से स्वागत हुआ, जो अमरीका के अनुभव से ठीक उल्टी चीज थी। अपने दौरों में उन्होंने जो कुछ कहा उससे युद्ध से ध्वस्त यूरोप को शायद सांत्वना मिली। उनके पुत्र का, जो इन दौरों में उनके साथ था, कहना है कि यूरोप-भर में और जर्मनी में तो विशेष तौर पर उनका बहुत ही जोश से स्वागत हुआ। वह कहता है :

1. पश्चिम यात्रीर डायरी, 61

"मध्य और उत्तरी यूरोप में लोगों ने वह जमीन पूजी जिसपर उनके चरण पड़े थे। लोगों से खचाखच भरी सभाओं और रेलवे स्टेशनों पर हमें यह नजारा देखने की आदत पड़ गई कि लोग पिताजी के पास पहुंचने और उनके चोगे के सिरे को छूने के लिए धक्का मुक्की करते थे। उनकी पुस्तकों की बिक्री असाधारण थी। जर्मनी में लाखों प्रतियां बिकीं।"[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यूरोप का दौरा एक और तरह से भी उतना ही फल-दायी रहा। उससे वे उन सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गए जो संस्कृति को महत्त्व देते थे। इस प्रकार पेरिस में वे प्रोफेसर सिल्वन लीवाइ से मिले जो भारतीय विद्या के वरिष्ठ विद्वान माने जाते थे। वहीं उनका परिचय कांतेस द नाय से हुआ जो कला की संरक्षिका और समाज की अति सम्मानित महिला थीं, तथा रोमां रोलां और दार्शनिक आनरी बर्गसां से भी परिचय हुआ।

जर्मनी के डार्मस्टर्स नगर में उन्होंने जर्मन दार्शनिक काउंट केसरलिंग का आतिथ्य स्वीकार किया। जर्मन में रहते हुए उनका परिचय जर्मन विश्व-विद्यालय के विद्वान विंटरनिट्ज से हुआ। चेकोस्लोवाकिया में से गुजरते हुए उनका परिचय चेक विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लेज्ने से कराया गया।

नोबेल कमेटी के स्थाई निमन्त्रण का मान रखने के लिए, उन्होंने इस अवसर पर स्वीडन की भी यात्रा की। स्टाकहोम में उनके सम्मान में एक भोज दिया गया जिसकी अध्यक्षता स्वीडन के बादशाह ने की। सुप्रतिष्ठित लेखिका सेल्मा लागरलूफ उस भोज की मेजबान थीं। उसके बाद वे वियाना के रास्ते स्वदेश वापस आ गए। यह स्मरणीय यात्रा पन्द्रह महीने चली और जुलाई, 1921 में समाप्त हुई।

अगली विदेश यात्रा मार्च, 1924 में हो पाई। इस बार चीन सरकार ने स्वयं निमन्त्रण भेजा। रवीन्द्रनाथ के साथ इस यात्रा में थे : क्षितिमोहन सेन, प्रसिद्ध चित्रकार नन्दलाल बोस, और रवीन्द्रनाथ के युवा अंग्रेज मित्र लेनर्ड एल्महर्स्ट।

यह दल 21 मार्च, 1924 को रवाना हुआ। चीन की अपनी यात्रा में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शंघाई, हानचो, नानकिंग और पीकिंग में पड़ाव डाला। देश-भर में उनका बड़े जोश से स्वागत हुआ। ऐसा लगता है कि चीन के लोगों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यात्रा का वास्तविक महत्त्व जान लिया था। वे

---

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : मान द एजिस आफ टाइम विद फादर एण्ड

यह समझ गए कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रतिनिधि हैं और उनकी यात्रा एक तरह से दोनों देशों के उन प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों का पुनरुद्धार है जब दोनों के विद्वान एक-दूसरे के देश में आते-जाते रहते थे। चीन में उनके आगमन पर प्रोफेसर ल्यान ची-चाओ ने जो स्वागत-भाषण पढ़ा उसमें इन्हीं विचारों और भावनाओं की झलक है। उनके भाषण के प्रासंगिक अंश का एक उद्धरण हम यहां दे रहे हैं :

> "श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व में और काव्य में हमें पूर्ण प्रेम और पूर्ण स्वतंत्रता के इन सिद्धान्तों का उदाहरण मिलता है जो हिन्दू संस्कृति और सभ्यता का आधार है...परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर हमारे लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि प्राचीन काल में बुद्ध के जीवनीकार अश्वघोष थे, और हमें आशा है कि चीन पर जो प्रभाव वे डालने जा रहे हैं वह किसी भी तरह कुमारजीव या चान्टी के प्रभाव से कम नहीं होगा।"[1]

चीन से रवीन्द्रनाथ ठाकुर कुछ दिनों के लिए जापान गए, क्योंकि वह पास ही था। इस बार, लगता है, जापान के बारे में उनके विचार थोड़े बदले। अपनी पहली यात्रा में वे उसकी देशी संस्कृति से बहुत प्रभावित हुए थे। इस बार पाश्चात्य संस्कृति के दबाव से उत्पन्न नये जापान ने, जो प्रौद्योगिकी और एक आक्रामक किस्म के राष्ट्रवाद में विश्वास करता लगता था, उन्हें थोड़ा धक्का पहुंचाया। अतः उन्होंने अपने व्याख्यानों को चेतावनी का स्वर देना आवश्यक समझा।

इससे पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर को यूरोप में दिखे आक्रामक राष्ट्रवाद के कुत्सित स्वरूप से धक्का लगा था। प्रौद्योगिक प्रगति से अर्जित शक्ति से लैस यूरोप ने नैतिक गुणों के सारे दिखावे छोड़ दिए थे और अविकसित देशों को खुल्लमखुल्ला महज पाशविक शक्ति से अपने अधीन किये हुए था, ताकि उनका खुलकर शोषण कर सके। इस बात से उन्हें और धक्का लगा कि इस मामले में जापान पश्चिम का अनुकरण करता नजर आता था। अतः उन्होंने उसे चेतावनी देना ठीक समझा। वहां दिए गए उनके एक भाषण का एक उद्धरण यहां उपस्थित है :

> "परन्तु राष्ट्र के ये उत्पादन-विनाश और मुनाफा कमाने का यन्त्र, कूटनीति का कपटाचार जिसके सम्मुख नैतिक दायित्व परास्त

1. टाक्स इन चाइना

> और मानव-बंधुत्व की भावना ध्वस्त पड़ी है—यह क्या है? इन्हें स्वीकार करने के लिए आपको ललचाया गया है या शायद करीब-करीब मजबूर कर दिया गया है।''[1]

स्वदेश लौटने के बाद कुछ महीनों के अन्दर ही पेरू से नया निमन्त्रण आ गया। यह ऐसा मौका था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर इनकार नहीं कर सकते थे। पेरू, 9 दिसम्बर, 1824 को स्पेनिश साम्राज्य के चंगुल से आजाद हुआ था और अपनी आजादी की शताब्दी मनाने जा रहा था। वहां की सरकार कि इस विशिष्ट अवसर को यथोचित महत्त्व प्रदान करने के लिए वे शताब्दी-समारोह में भाग लें। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उदार मानववादी चेतना को यह ध्येय अच्छा लगा और, सम्भावित यात्रा की कठिनाइयों के बावजूद, उन्होंने लम्बा और कष्टसाध्य समुद्री सफर करने का फैसला कर लिया।

सितम्बर, 1924 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर यूरोप के रास्ते पेरू के लिए रवाना हुए। सुरेन्द्रनाथ कार और प्रतिमादेवी फ्रांस तक उनके साथ रहे जहां वे जहाज से उतर गए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक और जहाज पकड़ा जिसे एटेलांटिक सागर पार कर उन्हें ब्यूनस आयरस पहुंचना था। उनके मित्र लेनर्ड एल्महर्स्ट सचिव के रूप में उनके साथ थे। दुर्भाग्य से रवीन्द्रनाथ इस सफर के दौरान बीमार पड़ गए। अतः ब्यूनस आयरस पहुंचने पर यह सवाल पैदा हुआ कि क्या वे शारीरिक रूप से इस योग्य हैं कि स्थल मार्ग से दक्षिण अमरीका के आरपार पेरू तक सफर कर सकें। यहां इनका स्वागत सेन्योरा विटोरियो ओकाम्पों ने किया, जो उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत ही चिंतित हो गई। उनके आग्रह पर स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण पेरू की यात्रा रद्द कर दी गई और टैगोर की चिकित्सा और स्वास्थ्य-लाभ के लिए देहाती क्षेत्र में बने उनके मकान में ले जाया गया।''

इस महिला के स्नेहपूर्ण और सद्-व्यवहार ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के हृदय को गहराई तक छू लिया। उनकी वह अंतरंगता गाढ़ी हो स्थाई मैत्री बन गई, जिसके मान्यता देते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी अगली काव्यकृति **पूरबी** उन्हीं को समर्पित की।

अगली विदेश-यात्रा मुसोलिनी के निमन्त्रण पर इटली के लिए शुरू हुई। इसकी अवधि यद्यपि लम्बी नहीं रही, पर यह संयोगवश यूरोप की

---

1. **लेक्चर्स एण्ड ऐड्रेसिज,** इंटरनेशनल रिलेशन्स

एक बहुत ही गहन यात्रा बन गई, जिसमें पहली बार बाल्कन प्रायद्वीप के राज्य भी शामिल किए गए। यह मई, 1926 में आरम्भ हुई और उसी वर्ष दिसम्बर में समाप्त हो गई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ इस बार पहले से बड़ा दल था। इसमें न केवल उनका पुत्र व पुत्रवधू बल्कि उनकी बेटी नन्दिनी भी थी। इसके अतिरिक्त प्रशान्त चन्द्र महलनबीस और उनकी पत्नी भी दल में शामिल थे।

नेपल्ज में उतरने पर प्रोफेसर फोर्मिकी ने दल का स्वागत किया। उन्हें, सीधे मुसोलिनी के आदेश पर, विशेष रूप से इस यात्रा के संचालन का भार दिया गया था। दल को जल्दी से रेल में बैठा कर रोम ले जाया गया जहां मुसोलिनी की कवि से भेंट हुई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्पष्ट इच्छा पर, रोम में दार्शनिक बेनेडेटो क्रोची से उनकी भेंट की व्यवस्था की गई। उसके बाद दल वेनिस के लिए रवाना हो गया, जहां इन लोगों ने 'गैंडोला' नौकाओं में विहार का आनन्द लिया। स्विट्जरलैंड जाते हुए यह दल टूरिन और मीलान से गुजरा।

इटली के दौरे में रवीन्द्रनाथ का यद्यपि अच्छा स्वागत हुआ था, पर ऐसा लगता था जैसे वातावरण सन्देह से भरा हो और जैसे गुप्तचर उन लोगों पर नजर रख रहे हों। विदेशियों के साथ सम्पर्क अधिकारियों को बुरा लगता था। तानाशाही से उत्पन्न वातावरण ही शायद इसके लिए जिम्मेदार था।

स्विट्जरलैंड में रोमां रोलां से मिलने के लिए कवि विलन्यूवे में रुके। उसके बाद उनका दल ज्यूरिख वियाना और पेरिस में से गुजरता हुआ लन्दन रुका। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मित्र एल्महर्स्ट ने उन्हें कुछ दिन देहात में अपने मकान में बिताने के लिए राजी कर लिया, जो डेवनशिर काउंटी के टोटनस नामक स्थान में था। एल्महर्स्ट का तब तक डोरथी स्ट्रेट से विवाह हो चुका था। वह वहां अपने इस प्रतिष्ठित अतिथि की मेजबान बनी।

टोटनस में कुछ समय ठहरने के बाद यह दल और दौरे लगाने के लिए यूरोप लौट आया। यात्रा-कार्यक्रम में नार्वे था, जहां रवीन्द्रनाथ स्टाइन कोनो से मिले; स्वीडन, डेनमार्क और फिर जर्मनी के हैम्बर्ग, बर्लिन और म्यूनिख शहर थे; और अन्त में आस्ट्रिया का वियाना था। उसके बाद दौरों का दूसरा चक्कर शुरू हुआ जिसमें दक्षिण-पूर्वी यूरोप के सभी देश आ गए। पहला पड़ाव हंगरी की राजधानी बूडापैस्ट में था, जहां रवीन्द्रनाथ अस्वस्थ हो गए। परन्तु उससे उनका उत्साह ठंडा नहीं हुआ, क्योंकि ठीक होते ही उन्होंने बाल्कन

राज्यों का अपना दौरा शुरू कर दिया। अगला पड़ाव यूगोस्लाविया की राजधानी बेल्ग्रेड था। वहां से यह दल सोफिया गया, जहां बुल्गारिया के बादशाह ने उनका शानदार स्वागत किया। उसके बाद दल डैन्यूब नदी पार कर बुखारेस्ट पहुंचा। वहां से उन्होंने बास्परस स्ट्रेट पर स्थित इस्तम्बूल के लिए स्टीमर लिया और फिर एथेन्स गए। स्वदेश लौटते हुए रवीन्द्रनाथ ने कुछ समय के लिए काहिरा जाने का भी अवसर निकाल लिया। यह गहन यात्रा ऐसे व्यक्ति के लिए जो कई साल पहले साठ पार कर चुका था काफी थकानेवाली रही होगी, पर अपने तगड़े शरीर के कारण रवीन्द्रनाथ उसे अच्छी तरह झेल गये।

1924 में की गई यूरोप की पिछली यात्रा के अनुभव की इस बार भी पुनरावृत्ति हुई। यूरोप में हर कहीं लोगों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ऐसे असाधारण जोश में स्वागत किया मानो उनके आगमन से भावना का एक ज्वार पैदा हो गया हो जो यूरोप में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैलता चला गया। उनके पुत्र रथीन्द्रनाथ ने अपना अनुभव इस प्रकार अंकित किया है:

> "जहां कहीं भी वे गए वहां न केवल सरकारी अधिकारियों और जन-साधारण ने उनका राजसी स्वागत किया, बल्कि उन्हें ऐसा हार्दिक सम्मान दिया गया जैसा कि किसी पैगम्बर को दिया जाता है। हर रेलवे स्टेशन पर उनके दर्शन के लिए या उनके चोगे का सिरा छूने के लिए जबर्दस्त भीड़ जुट जाती थी।"[1]

अगली दो यात्राएं थोड़ी अवधि की थीं। उनमें पहली का सूत्रपात हालैंड के प्रोफेसर ए. ए. बेक के कारण हुआ, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को इंडोनेशिया के लिए आमन्त्रित किया। यह यात्रा जुलाई, 1927 में शुरू हुई और उसी साल अक्तूबर के अन्त में समाप्त हो गई। इस बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ प्रसिद्ध भाषाविज्ञान के प्रोफेसर सुनीतिकुमार चटर्जी और कलाकार सुरेन्द्रनाथ कार थे। प्रोफेसर बेक इस दल के स्वागत के लिए पहले ही वहां पहुंचे।

दल मलय प्रायद्वीप का दौरा करने के लिए पहले सिंगापुर उतरा। उसके बाद वे लोग खास इंडोनेशिया के लिए रवाना हुए। सुमात्रा में रवीन्द्रनाथ सुप्रसिद्ध बुराबुदुर मन्दिर के अवशेष देखने गए जो इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि इन द्वीपों के लोगों ने कभी भारतीय संस्कृति अपनाई थी। परन्तु अपने इतिहास के बाद के दौर में वे धर्मपरिवर्तन कर मुसलमान बन गए; केवल

---

1. रथीन्द्रनाथ ठाकुर: आन द एजिस आफ टाइम, फ्रंटियरस इन यूरोप

बाली द्वीप में रहनेवाला एक अल्पसंख्यक समुदाय ही हिन्दू धर्म का पालन करता रहा। इस प्रकार आबादी की बहुसंख्या ने इस्लाम को अपनाते हुए भी हिन्दू संस्कृति कायम रखी। यह एक असाधारण प्रक्रिया थी जिसमें दो संस्कृतियां परस्पर घुलमिल गई लगती थीं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जावा में सूराबाया और रजकार्टा देखा और फिर वे बाली गए। वहां की स्त्रियों में नृत्य का बहुत चलन है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आदर-सत्कार बाली की स्त्रियों ने नृत्यों से किया। उन नृत्यों की भव्य गतियों की उन्होंने खूब सराहना की और उनकी सुखद स्मृति के अपने साथ लिए लौटे।

ईस्ट इंडीज के इस प्रवास में कलाकार सुरेन्द्रनाथ कार को वस्त्रों की छपाई के डिजाइन, जिनका तकनीकी नाम बाटिक है, खास तौर पर अच्छे लगे। इस प्रक्रिया में अपनाए जानेवाले विशेष तकनीकी से एक-दूसरे को काटती लहराती रेखाओं का बड़ा प्यारा 'पैटर्न' बनता है जो अपना एक विशेष आकर्षण रखता है। वे यह तकनीक शान्तिनिकेतन के सहयोगी संस्थान श्रीनिकेतन में लाए और वहां यह शुरू किया गया। इसकी अपनी विशेषता से उपभोक्ताओं का मन मोह लिया और इस समय यह एक बहुत ही लोकप्रिय ड़िजाइन है जिसका आम फैशन है।

लौटते हुए इस दल ने थाइलैंड की राजधानी बैंकाक का जल्दी-जल्दी दौरा किया और 27 अक्तूबर, 1927 को वह स्वदेश वापस आ गया।

अगली बार निमन्त्रण कनाडा से आया जिसका एक नई दृष्टि से महत्त्व था। अब तक जो निमन्त्रण रवीन्द्रनाथ ठाकुर को मिले थे वे उनके उच्च कोटि के लेखक होने के आधार पर मिले थे। परन्तु इससे यह मान्यता निहित थी कि वे एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के शिक्षाविद् हैं, क्योंकि यह निमन्त्रण कनाडा की राष्ट्रीय शिक्षा परिषद द्वारा आयोजित ऐसे सम्मेलन के लिए था जिसमें शिक्षा की समस्याओं पर विचार-विमर्श होना था। उनसे विशेष रूप से शिक्षा पर भाषण देने की प्रार्थना की गई थी। इस बार उनके साथ यात्रा पर गए अध्यापक अपूर्व कुमार चंदा और उदीयमान कवि सुधीन्द्रनाथ दत्त। ये दोनों ही उनके युवा प्रशंसक थे। मेथडिस्ट चर्च के प्रोफेसर टकर भी उनके साथ गए।

कनाडा में वे केवल दस दिन टिके। सम्मेलन क्योंकि वैनकूवर में होना था, जो पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित है, इसलिए दल ने मार्च, 1929 में प्रशान्त महासागर के पार यात्रा की। लौटते हुए वे लोग जापान में रुके। वहां

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रशंसकों ने उन्हें एक नई तरह की साहित्यिक रचनाएं प्रस्तुत करने को बाध्य किया। जापान में यह फैशन है कि लोग हाथ में छोटी सी पंखी लिए रहते हैं। प्रशंसकों की ओर से जब इन प्रार्थनाओं की भरमार हुई कि वे उनकी पंखियों पर अपने हस्ताक्षर सहित कुछ शब्द लिखें, तो वे कुछ पंक्तियों के ऐसे पद रचने को बाध्य हुए जो अपने-आप में पूर्ण थे, और वे उन्होंने पंखियों पर लिखे। ये पद इतनी बड़ी संख्या में रचे गए कि पुस्तक रूप में प्रकाशित होने के लिए काफी थे। इस पुस्तक का नाम उन्होंने, यह जताने के लिए कि ये विचार-स्फुलिंग हैं, **'फायर-फ्लाईज'** (जुगनू) रखा। यहां उनके दो नमूने देना ठीक रहेगा :

"(1) दिन हैं रंगीन बुलबुले
अथाह रातों की
सतह पर तैरते हुए।
(2) बादल हैं भाप के पर्वत
पर्वत, पत्थरों के बादल—
काल के स्वप्न की अपूर्व कल्पना।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अगली विदेश-यात्रा केवल लम्बी-चौड़ी ही नहीं, बल्कि कई तरह से महत्वपूर्ण भी थी। वह मार्च, 1930 में शुरू हुई और उसी साल दिसम्बर में खत्म हुई। उसमें अमरीका, ब्रिटेन और यूरोप के अन्य देशों के अलावा रूस का दौरा भी शामिल था, जहां वे पहली बार जा रहे थे। रूस तब तक पक्के तौर पर कम्युनिस्टों के नियन्त्रण में आ चुका था जो समाज के कायाकल्प के लिए वहां एक महान प्रयोग कर रहे थे। समस्त संसार इस प्रयोग पर उनकी प्रतिक्रिया के इन्तजार में था।

यह यात्रा एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण थी। अपनी आयु के सातवें दशक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर चित्रकला की ओर आकर्षित हुए थे और उन्होंने उसे अपनी अभिव्यक्ति का नया माध्यम बनाया था। वस्तुतः वे अपनी पाण्डु-लिपियों में जो काट-छांट करते थे उसी के कारण वे चित्रकला में उलझ गए। वे उस काट-छांट को एक समन्वित आकार देने की कोशिश करते, और उस प्रक्रिया में विचित्र आकृतियां उभर आतीं। इसमें जब उन्हें रस मिला तो उन्होंने कलम और ब्रूश दोनों का प्रयोग करते हुए कला के क्षेत्र में दुःसाहस कर अलग-से आकृतियां बनाना शुरू कर दिया। बाद में वे मानव चेहरों, आकृतियों और दृश्यों जैसे अन्य विषयों की ओर आकर्षित हो गए।

टैगोर ने अपने कुछ चुने हुए चित्र यूरोप और अमरीका में प्रदर्शित करने का निश्चय किया। इस तरह, इस यात्रा में उनके कृतित्व का एक नया पहलू बाहरी दुनिया के सामने आया। यद्यपि इससे अंग्रेजी **गीतांजलि** जैसी सनसनी तो नहीं फैली, फिर भी यूरोप के लोगों में एक उत्तेजना पैदा हो गई। इसका इस दृष्टि से भी महत्त्व था कि यह दिखाता था कि वृद्धावस्था में भी उनमें इतनी जीवनी-शक्ति थी कि सृजनात्मक कार्य के एक नए रूप में प्रयोग कर सकें।

एक और महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस बार आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें हिबर्ट लैक्चर्स के लिए आमंत्रित किया था। इन व्याख्यानों के लिए आम तौर पर प्रतिष्ठित दार्शनिकों को ही आमन्त्रित किया जाता था। परन्तु इस बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पक्ष में उस नियम का अतिक्रमण हुआ था। उन्हें दार्शनिक मानकर, जो कि वास्तव में वे थे, विश्वविद्यालय ने यह दिखा दिया था कि उसके अधिकारी-वर्ग में एक पारखी दृष्टि है, जो दार्शनिक प्रतिभा की खोज केवल उस विषय के विधिवत प्रशिक्षित विद्वानों में ही नहीं करती बल्कि उसे इस महापुरुष की काव्यमयी वक्तृताओं में भी पहचान सकती है।

इस बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ उनका पुत्र और पुत्रवधु थे। वे लोग पहले ब्रिटेन गए क्योंकि हिबर्ट लैक्चर्स मई, 1930 में दिए जाने थे। वहां रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो व्याख्यान दिए वे बाद में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा 'रिलिजन आफ मैन' शीर्षक से पुस्तक रूप में प्रकाशित किए गए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दर्शन धर्म की उनकी धारणा के गिर्द केन्द्रित था। जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, यह कवि का धर्म है और धार्मिक आचार के किसी-स्थापित रूप से सदृश्य नहीं है। यह उनके मन में उस आयु से ही विकसित होने लगा था जिसमें चरित्र का निर्माण होता है; उनके रुझान और मिजाज से खास तौर पर इसे दिशा मिलती रही और एक अन्तर्दर्शन द्वारा इसने अपना अन्तिम रूप ग्रहण कर लिया । इस विषय पर उनकी अपनी टिप्पणी यहां उल्लेखनीय है:

> "हमारे ईश्वर की मानवता या चिरन्तन मानव के देवत्व का विचार इस पुस्तक का मुख्य विषय है। ईश्वर का विचार मेरे मन में दार्शनिक विवेचन की किसी प्रक्रिया द्वारा नहीं पनपा है। इसके विपरीत, शुरू के दिनों से ही, यह मेरे मिजाज की धारा का अनुसरण करता रहा, और अन्त में अचानक एक प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन के

साथ यह मेरी चेतना में कौंध उठा।''[1]

उनका धार्मिक चिन्तन जैसे-जैसे विकसित होता गया, वह उनकी कविताओं और अन्य रचनाओं में अंकित होता गया। पर, इसी कारण, वह सारा खंडों में इधर-उधर बिखरा है। इस दृष्टि से इस प्रकाशन ने उनके चिन्तन को समझने के लिए अमूल्य सामग्री प्रदान की। इसी में पहली बार उन्होंने अपने दर्शन-सम्बन्धी विचारों को एकत्रित करने का प्रयास किया। इस तरह यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी हो गई, क्योंकि इसमें न केवल इस गूढ़ विषय पर काफी जानकारी है, बल्कि उनके काव्य को, जो उनके दार्शनिक चिन्तन से गहरा रंगा है, समझने के लिए मूल्यवान संकेत भी है। इससे हमें एक ऐसी कुंजी उपलब्ध हो गई जिससे उनके मानस को समझा जा सकता है।

आक्सफोर्ड में अपने व्याख्यान पूरे कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर पेरिस गए। उनका विशेष उद्देश्य कलाकारों और कला-पारखियों के इस नगर में अपने चित्रों की प्रदर्शनी करना था। उसके लिए काफी संगठनात्मक कार्य जरूरी था। सौभाग्य से उनके दो मित्र, जिनसे इसी नगर में उनका 1920 में परिचय हुआ था, इस कार्य में उनकी सहायता को आगे आ गए। उनमें एक इसी नगर की रहने वाली, कला की प्रसिद्ध संरक्षिका, कांतेस डे नाय थीं। दूसरी ब्यूनस आयरस की विटोरियो ओकाम्पो थीं जो 1924 में, जब रवीन्द्रनाथ पेरू जा रहे थे, रास्ते में उनकी बीमारी में उनकी देखभाल करती रहीं थीं और उनकी प्रिय हो गई थीं। इन दो मित्रों की निष्ठा-भरी लगन के कारण, पेरिस में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों की प्रदर्शनी काफी सफल रही।

वे फिर बर्लिन गए। उद्देश्य यहां भी अपने चित्रों की प्रदर्शनी ही था। यात्रा के इस चरण में प्रोफेसर अमिय चक्रवर्ती उनके साथ थे। डा. सेलिग के रूप में, एक महिला मित्र ने यहां भी प्रदर्शनी आयोजित करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। यह चीज सचमुच गौर करने लायक है कि कवि ने विदेश में इतने सारे मित्रों का हृदय जीत लिया था जो विभिन्न देशों में जरूरत के वक्त उनका साथ देने को तैयार थे। यह इस बात का प्रमाण है कि उनके व्यक्तित्व में कितना आकर्षण था।

बर्लिन से रवीन्द्रनाथ ठाकुर एल्सिने की एक छात्र-सभा में भाषण देने के लिए डेनमार्क गए। उसके बाद वे जेनेवा चले गए। वे अभी जेनेवा में ही थे कि उन्हें सोवियत रूस की यात्रा का निमन्त्रण मिल गया। वह देश उन्होंने अभी तक

---

1. रिलिजन आफ मैन, मैन्स यूनिवर्स

नहीं देखा था और स्वभावतः, वे यह जानने को उत्सुक थे कि वहां नई सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का प्रयोग किस प्रकार चल रहा है। अतः उन्होंने वह निमन्त्रण सोत्साह स्वीकार कर लिया। नई व्यवस्था में जो-कुछ उन्हें अच्छा लगा उसकी उन्होंने सराहना की, जो निःसंकोच और स्वतःस्फूर्त थी। वह आगे चलकर दोनों देशों के सुदृढ़ सांस्कृतिक सम्बन्धों का आधार बन गई।

मास्को में रूसी लेखकों और एक सांस्कृतिक संघ ने उनके सम्मान में एक स्वागत-समारोह आयोजित किया। बाद में उन्हें एक पायनियर कम्यून में ले जाया गया; वहां के बच्चों के साथ वे खूब घुलमिल गए। सितम्बर के अन्त में वे मास्को लौटे और वहां केन्द्रीय ट्रेड यूनियन कार्यालय में उन्होंने एक सभा में भाषण दिया।

रूसी जीवन का सहानुभूति के साथ गुण-विवेचन करने के कारण उस देश के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण हो गए। अपने चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित करने के लिए उन्हें सभी प्रकार की सुविधाएं प्रदान की गईं, और उन चित्रों की खूब सराहना भी हुई।

रूस से रवीन्द्रनाथ ठाकुर अमरीका गए, क्योंकि अपने चित्रों की एक प्रदर्शनी न्यूयार्क में भी करने की उनकी बड़ी इच्छा थी। उनके अपने प्रयास से यह प्रदर्शनी विधिवत आयोजित हुई। परन्तु जो उत्साह पहले देखा गया था उसका अभाव अब स्पष्ट था। उन्हें सुनने के लिए वहां कोई उत्साह नहीं था, इस लिए न सभाएं हुई और न लेक्चरों के लिए दौरे हुए। अनुमान है कि उनके अमरीकी मित्रों के हृदय में जो जोश हो सकता था वह, रूसी समाज में उन्हें जो-कुछ अच्छा लगा था उसकी खुले आम सराहना करने के कारण, ठंडा पड़ गया था ।

रूस की अपनी यात्रा के अनुभव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पत्रों के रूप में अंकित किए हैं और वे राशियर चिट्ठी नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए हैं। इन पत्रों की अन्तर्वस्तु से अपने देश में और बाहर दोनों जगह काफी सनसनी फैली। कम्यु-निस्ट विचारधारा, जिससे कि रूस में चल रहे प्रयोग प्रेरित थे, मूलतः एक नई विचारधारा थी और, जैसा कि समझा जा सकता है, उसके विरुद्ध लोगों में अच्छा खासा पूर्वाग्रह था। रूसी जीवन की जो बातें रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अच्छी लगीं उनकी निःसंकोच सराहना से जहां उन्हें रूसी जनता की मैत्री मिली, वहां बहुत से अपने ही देशवासियों द्वारा अक्सर उसकी कटु आलो-

चना भी हुई। वस्तुतः इन आलोचकों ने ही उन्हें एक विवाद के लिए उकसाया, जिसकी झलक इन पत्रों में से कुछ में मिलती है। परन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ न्याय करने के लिए यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि उन्होंने ठीक वही किया था जो इस तरह की परिस्थितियों में उनके-जैसा कोई भी संवेदनशील निष्पक्ष व्यक्ति करता। जो चीज उनके विचार से अच्छी थी उसकी यदि उन्होंने प्रशंसा की थी, तो उनका विवेकी मन मुख्य दोषों की ओर इंगित करने से भी नहीं चूका था।

सोवियत व्यवस्था की दो स्पष्ट विशेषताएं उन्हें प्रशंसनीय लगीं। एक, शिक्षा की बहुत बड़े पैमाने पर व्यवस्था; और दूसरी, दीनहीन वर्गों को ऊपर उठा कर ऐसी स्थिति में पहुंचा देना जिससे उनमें आत्म सम्मान की चेतना विकसित हो रही थी।

परन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नजरों से यह चीज भी छिपी नहीं रही कि ये उपलब्धियां जिन विचारों से प्रेरित हैं उनका स्वरूप एकांगी है। समाज के दो पक्ष हैं: समुदाय और व्यक्ति। जो व्यवस्था उनके परस्पर-विरोधी हितों में तालमेल बैठाने में सफल नहीं है, वह अपने भीतर ही विपत्ति का बीज छिपाए हुए है। दूसरी ओर, दोनों पक्षों में एक प्रतीकात्मक नाता है, अतः उनके परस्पर-विरोधी हितों का तालमेल दोनों के लिए कल्याणकारी है। दुर्भाग्य से, औद्योगिक क्रांति के बाद पूंजीवादी व्यवस्था के विकास से समुदाय के हित की नींव खोखली हो गई, क्योंकि व्यक्ति के हित को उसने अवांछनीय सीमा तक बढ़ावा दिया जिससे दौलत और आर्थिक शक्ति थोड़े-से लोगों के हाथों में केंद्रित हो गई। इसकी प्रतिक्रिया में, नई व्यवस्था के अधीन सारा ध्यान समुदाय के हित पर ही दिया गया है। इससे भी असंतुलन पैदा होता है और, इसलिए, यह भी उतना ही अवांछनीय है। इस विवादास्पद विषय पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मत का प्रतिनिधित्व, लगता है, बहुत-कुछ इसी से होता है। इसकी पुष्टि के लिए उनके पत्रों के कुछ प्रासंगिक अंश उद्धृत किए जा सकते हैं।

सोवियत संघ में शिक्षा की स्थीत के बारे में उनका यह कहना था:

> "मैं आज जो-कुछ देख रहा हूं उससे मैं आश्चर्यचकित रह गया हूं। शिक्षा हमारी सबसे बड़ी समस्या है। अभी तक लोगों की बहुसंख्या शिक्षा की पूर्ण सुविधाओं से वंचित थी, भारत में तो वह उनसे प्रायः सर्वथा वंचित है। यहां व्यक्ति यह देखकर चकित हुए बिना नहीं रहता कि समाज के सभी स्तरों पर शिक्षा का आश्चर्य-

जनक उत्साह के साथ प्रसार किया जा रहा है। जो चीज प्रभावित करती है वह यह कि न केवल लोगों की भारी संख्या को शिक्षित किया जा रहा है, बल्कि शिक्षा का स्वरूप व्यापक और गति बहुत तेज है।''[1]

स्पष्ट है कि शिक्षा के प्रसार के लिए अपनाए गए व्यापक उपायों ने रवीन्द्रनाथ को प्रभावित किया था। परन्तु वे उसकी पद्धति से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। उनका ध्यान इस बात पर गया था कि शिक्षा-पद्धति इस ढंग से गढ़ी गई है कि उससे मौलिक चिन्तन की क्षमता नष्ट होने लगती है और साथ ही छात्रों का मन वांछित नमूने के अनुरूप बनता जाता है, जैसे की कारखानों में बड़े पैमाने पर उपभोग की वस्तुएं बनाई जाती हैं। इस तरह की पद्धति के प्रति अपनी अरुचि व्यक्त करने में वे झिझके नहीं थे, जैसा कि नीचे के उद्धरण से स्पष्ट हो जाएगा :

> ''मैं यह नहीं कहता कि इसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि गंभीर दोष है, जिसके कारण किसी दिन इन्हें विपत्ति का सामना करना पड़ेगा। संक्षेप में कहें तो दोष यह है कि शिक्षा के लिए जो पद्धतियां अपनाई गई हैं उनके द्वारा इन्होंने एक सांचे पर ढलाई शुरू कर दी है। परन्तु किसी सांचे पर ढाला गया व्यक्तित्व टिकाऊ नहीं होता।
>
> ''शिक्षा का सिद्धान्त यदि सजीव मन के साथ अपना तालमेल नहीं बैठा पाता है, तो किसी दिन या तो सांचा टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा या मन दबाव के कारण मुरझा जाएगा या महज मशीन से चलनेवाला औजार बन जाएगा।''[2]

इसी प्रकार नए राज्य के अधीन विकसित नई अर्थ-व्यवस्था के बारे में वे कहते हैं :

> ''यहां जो चीज मुझे सब से अच्छी लगी वह है, दौलत के अशिष्ट गर्व का सर्वथा लुप्त हो जाना। अकेले इसी कारण जन-साधारण में आत्म-सम्मान की चेतना बेरोकटोक बढ़ी है। किसान और मजदूर जैसे दीन-हीन वर्ग, विशेषाधिकार प्राप्त

---

1. चिट्ठी-1
2. राशियार चिट्ठी

वर्ग के घमण्ड के भारी बोझ को उतार फेंक, आज सिर उठाकर सीधे खड़े हो सके हैं। इससे मुझे जितनी खुशी हुई है उतना ही आश्चर्य भी हुआ है।''[1]

परन्तु रूस में अपनाई गई नई अर्थव्यवस्था ने केवल उत्पादन का समाजीकरण ही नहीं किया था बल्कि व्यक्ति के कार्य स्वातंत्र्य और स्वामित्व को भी अस्वीकार कर दिया था। इस नई व्यवस्था की यह असंगति रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नजरों से छिपी नहीं थी, जैसा कि उनके निम्न-लिखित कथन से स्पष्ट हो जाएगा :

''इस समस्या का समझौते के सिवा कोई और समाधान है, मैं यह नहीं मानता। दूसरे शब्दों में, सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व तो कायम रखना चाहिए, पर व्यक्ति के उपभोग के अधिकार को सीमित कर देना चाहिए। उस सीमा के बाहर जो फालतू हो वह समुदाय के उपयोग के लिए जाना चाहिए। केवल इसी तरीके से सम्पत्ति के स्वामित्व को लोभ या क्रूरता से प्रेरित धोखाधड़ी में परिणत होने से रोका जा सकता है।

इस समस्या को सुलझाने के अपने प्रयास में रूस ने इसके अस्तित्व से ही इनकार कर दिया है। इस लक्ष्य के लिए जोर-जबर्दस्ती की कोई हद नहीं है। व्यक्ति को कार्य स्वातंत्र्य नहीं होना चाहिए, यह नहीं कहा जा सकता। मेरा आशय यह है कि व्यक्ति की जो आवश्यक जरूरतें हैं वे उसके पास होनी चाहिएं, पर उससे अति-रिक्त हर चीज समुदाय के लाभ के लिए होनी चाहिए। समाधान व्यक्ति और समुदाय दोनों के दावों को स्वीकार करने में ही निहित है।''[2]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर अब सत्तर वर्ष के हो गए थे। 1912 से 1930 तक की अवधि में उन्होंने नौ बार भारत से बाहर के देशों की यात्रा की। वृद्धावस्था के कारण वे अब इस तरह का दबाव सह सकने लायक नहीं रहे थे। फिर भी वे ऐसे निमन्त्रणों को अस्वीकार करने को तैयार नहीं थे जिनसे बाहरी

1. राशियर चिट्ठी-2

2. राशियर चिट्ठी-5

दुनिया के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना में सहायता मिल सकती थी, क्योंकि यह ध्येय उनके हृदय को प्रिय था।

इसीलिए ईरान के शहनशाह रजा शाह पहलवी की ओर से जब निमन्त्रण मिला तो उनके पास उसे स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं था। इस बार यात्रा हवाई जहाज से की गई। प्रतिमा देवी, केदारनाथ चटर्जी और अमिय चक्रवर्ती उनके साथ गए।

पहले वे शीराज गए जहां सादी और हफीज दोनों कवियों के मकबरे हैं। सादी के मकबरे से लगे उद्यान में उनके लिए एक स्वागत-समारोह आयोजित किया गया। बाद में वे हाफीज का मकबरा देखने गए।

राजधानी तेहरान में उनके सम्मान में एक शानदार स्वागत-समारोह हुआ, जिसके बाद उनकी शहनशाह से भेंट हुई। ईरान के लोगों ने हर कहीं उनका बड़े जोश से स्वागत किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह अनुमान सही था कि इसका एक विशेष कारण था। इन लोगों के लिए वे मात्र एक प्रतिष्ठित कवि नहीं थे, बल्कि ऐसे कवि थे जिन्हें, एशियाई होने के कारण, वे अपना मान सकते थे और इसीलिए जिनकी उपलब्धियों पर गर्व कर सकते थे। वे लोग उन्हें इंडो-आर्यन के रूप में भी देखते थे, जिनकी उत्पत्ति उसी मूल नस्ल से मानी जाती है जिससे कि इंडो-ईरानियन लोगों की हुई है। इसलिए वे उनके साथ अपना खून का रिश्ता भी मानते थे।[1]

लौटते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अब्बासी खलीफाओं के देश इराक का भी जल्दी-जल्दी दौरा किया। बगदाद के रास्ते जून, 1932 में वे स्वदेश वापस आ गए।

उसके बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर केवल एक ही विदेश-यात्रा के लिए राजी हुए। यह समुद्र मार्ग से श्रीलंका की छोटी-सी यात्रा थी जो मई, 1934 में शुरू हुई और कोई एक महीने चली। भाषणों के अलावा, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कोलम्बो में अपने चित्रों की भी प्रदर्शनी की। सांस्कृतिक रूप से भारतीयों के साथ जुड़े होने और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपना ही एक आदमी मानने के कारण, श्रीलंका के लोगों ने उनका खूब जोश से स्वागत किया।

श्रीलंका की यह यात्रा ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आखिरी विदेश-यात्रा थी। वे तब तिहत्तर वर्ष के हो गए थे। उसके बाद दुर्बलता ने उन्हें इस तरह के कार्यक्रम बन्द करने को बाध्य कर दिया।

---

1. परवश्या

2. परवश्या

12. शिक्षाविद् और सामाजिक कार्यकर्त्ता

दो कारण थे जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को शिक्षाविद् बनाने के लिए प्रवृत्त किया। पहला यह कि उनका पुत्र जब उस आयु का हो गया कि उसके लिए स्कूल में नियमित शिक्षा जरूरी थी, तो स्कूली जीवन के अपने कटु अनुभव ने उन्हें उसके लिए एक नए ढंग के स्कूल की व्यवस्था करने को प्रेरित किया। दूसरा यह कि उन्होंने अपने को किसी निःस्वार्थ सेवा में लगाने की अन्तःप्रेरणा महसूस की थी। आत्मिक रूप से अपने को चरितार्थ करने के लिए यह अवस्था आवश्यक थी। इस तरह, इन दो प्रेरणाओं ने मिलकर उन्हें शान्तिनिकेतन में स्कूल स्थापित करने के निर्णय की ओर प्रवृत्त किया।

अतः 1901 में वहां एक स्कूल स्थापित हुआ। धीरे-धीरे यह अच्छी तरह जम गया और इसकी अपनी प्रतिष्ठा हो गई। यह स्वरूपतः एक अधि-वासी संस्थान था और बहुत-कुछ भारत के प्राचीन तपोवनों के नमूने पर बनाया गया था। इस शताब्दी के दूसरे दशक के प्रायः मध्य में वह समय आ गया जब इसका और विकास किया जा सकता था। एक पक्की नींव पर निरन्तर विकसित होने के कारण, यह अब इस स्थिति में था कि उस ऊपरी ढांचे का बोझ सहन कर सकता था। प्रश्न यह था कि उस ऊपरी ढांचे का रूप क्या हो।

उचित समय पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं ही इसका उत्तर दिया। वे तब तक एक विश्व-विभूति के रूप में सारे संसार में विख्यात हो चुके थे। अपनी आत्मिक उपलब्धियों और मनोहारी व्यक्तित्व से उन्होंने यह अधिकार प्राप्त कर लिया था कि विदेशों के लोग उनकी बात मनोयोग से सुनते थे। इन सब योग्यताओं के संयोग से वे, स्वभावतः, भारत के आध्यात्मिक राजदूत की भूमिका के लिए उपयुक्त व्यक्ति बन गए। विभिन्न देशों से उन्हें निमन्त्रण मिले, और उनसे इन यात्राओं में व्याख्यान देने की उपेक्षा की जाती थी। भारतीय संस्कृति को उन्होंने इतना आत्मसात् कर लिया था जितना कि शायद ही किसी ने किया हो। अतः उन व्याख्यानों को सुनने वालों को उनमें भारत का सन्देश मिलता था। उन लोगों को यह समझने मे कठिनाई नहीं हुई कि वे उनके आगे "भारत के प्रवक्ता और उसकी

संस्कृति के जीवन प्रतीक'' के रूप में बोल रहे हैं।[1]

उन लोगों ने न केवल यह महसूस किया कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारत के संदेश को दूसरे देशों तक पहुंचाने का दायित्व अपने ऊपर ले चुके हैं और उसे पूरा कर रहे हैं, बल्कि वे उसकी जरूरत के प्रति भी पूर्णतः सचेत हो गए और यह समझ गए कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी इस भूमिका को कितने कारगर ढंग से अदा कर सकते हैं। नीचे के उद्धरण से यह बात सिद्ध हो जाएगी :

> ''डा. रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत की आत्मा की व्याख्या शेष संसार के आगे करने का काम सम्भाल लिया है। वे जब दुनिया के दूसरे भागों में जाते हैं तो अपने साथ भारत के महान और गौरवमय अतीत की कहानी—कला, दर्शन और नैतिकता में उसकी उपलब्धियां भारत के उपहार-स्वरूप वहां ले जाते हैं।''[2]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं यह जान गये कि विदेशों में उनके व्याख्यानों की सराहना उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और वे यह समझ गये कि इस तरह की यात्राओं में उनका जो सोत्साह स्वागत होता है वे इस तथ्य से प्रेरित हैं कि उनके द्वारा वे भारत की आवाज सुनते हैं। उन्हें जो अभिनन्दन मिलता है वह उनके लिए नहीं बल्कि भारत की आध्यात्मिक विरासत के लिए होता है, जिसका कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इस जानकारी से ही उनके मन में यह विचार आया कि देश के बाहर भारत की आध्यात्मिक सम्पदा के ज्ञान के लिए भूख है।

इस अहसास ने फिर उन्हें यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि यह मांग क्योंकि बहुत-कुछ स्थायी किस्म की है, इसलिए जो कार्य वे कर रहे हैं उसे स्थायी रूप से हाथ में लेने के लिए कोई संस्थान होना चाहिए। यह विचार ही उन्हें इस निश्चय पर ले गया कि शान्तिनिकेतन के संस्थान को एक विशिष्ट प्रकार के विश्वविद्यालय का रूप लेना चाहिए। उनके निम्नलिखित कथन से यह बात सिद्ध हो जाएगी :

---

1. लैक्चर्स एण्ड एड्रेसिज, इन्ट्रोडक्शन, कम्पाइल्ड बाइ मैकमिलन एण्ड कं०
2. वही

"जिन लोगों ने मुझे सम्मानित किया है, वास्तव में उन्होंने मेरे द्वारा भारत को सम्मान दिया है। यह मेरे जीवित न रहने पर रुकना नहीं चाहिए, क्योंकि यह मुझसे व्यक्तिगत रूप से नहीं जुड़ा है। विश्व भारती को स्वीकार कर आप ने भारत के अमर आध्यात्मिक स्वरूप को अभिव्यक्ति देने की जिम्मेदारी ले ली है।"[1]

लगता है, प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के आसपास यह विचार ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मन में सर्वोपरि था। उससे पहले अपनी विदेश-यात्राओं का कुछ अनुभव उन्हें हो चुका था, क्योंकि वे 1912 में ब्रिटेन और अमरीका की तथा 1916 में जापान और पुनः अमरीका की यात्रा कर चुके थे। अनुमान है कि शान्तिनिकेतन के अपने संस्थान को एक विशिष्ट प्रकार के विश्वविद्यालय में परिवर्तित करने का विचार इसके कुछ समय बाद ही उनके मन में आया।

उनके सामने यह चीज बहुत ही साफ थी कि इस नए विश्वविद्यालय को जो विशिष्ट भूमिका ग्रहण करनी है उसके अनुरूप बनने के लिए, यह आम विश्वविद्यालयों से अलग ढंग का होना चाहिए। प्रश्न के इस पहलू पर विचार करने के बाद उन्होंने कुछ व्यापक सिद्धान्त निश्चित किए और उनका यह विचार था कि ये इसकी योजना तैयार करने में मार्गदर्शन होने चाहिएं।

प्रस्तावित विश्वविद्यालय का मुख्य कार्य क्योंकि भारत के आदर्शभूत ज्ञान को बाहरी दुनिया के आगे रखना था, इसलिए उसे उसके व्यापक अध्ययन की सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए। उनका विचार था कि भारतीय ज्ञान का विकास विभिन्न युगों में पृथक संस्कृतियों के आधार पर हुआ है। उनकी गणना के अनुसार ये वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन, इस्लामी, सिख और जोरोस्त्रीअन या पारसी संस्कृतियां हैं।[2] जाहिर है, वे इस सूची को यथा-सम्भव अधिक-से-अधिक व्यापक रखना चाहते थे, जिससे कि छोटे-से-छोटा सांस्कृतिक समुदाय भी छूटने न पाए। उनकी इच्छा थी कि भारतीय संस्कृति के इन सभी तत्त्वों का ज्ञान प्रस्तावित संस्थान से मिलना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उद्देश्य स्पष्ट रूप से यह था कि एक विशिष्ट संस्थान

1. विश्व-भारती, 12
2. दि सेंटर आफ इंडियन कल्चर

ऐसा होना चाहिए जहां बाहर के आदमी को भारत की मिलीजुली संस्कृति उपलब्ध हो सके। भारत की संस्कृतिक विरासत के लिए उनके मन में बड़ा आदर था और वे सचमुच यह महसूस करते थे कि बाहर के शिक्षित लोगों में उसके सम्पर्क में आने की सच्ची इच्छा है। अतः, यह भारत का कर्त्तव्य है कि वह बाहर की दुनिया को अपनी संस्कृति में भागीदार बनने के लिए निमन्त्रित करे। प्रस्तावित विश्वविद्यालय यह विशिष्ट कार्य अपने ऊपर ले सकता है।

नए विश्वविद्यालय के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो 'विश्व-भारती' नाम प्रस्तावित किया, वह उनके मुख्य उद्देश्य का स्पष्ट संकेत देता है। ऐसा लगता है कि यह नया नाम गढ़ने की प्रेरणा उन्हें वेद के इस वाक्य से मिली थी: **यत्र विश्वंभवत्येकनीडम्** जिसका अर्थ है, वह स्थान जहां सारा विश्व, एक साथ बसेरा करता है। उनका आशय यह था कि इस नये संस्थान का इस प्रकार विकास हो कि विश्व के विभिन्न भागों के लोग आध्यात्मिक सम्पदा के आदान-प्रदान के लिए इसमें खिंचे चले आएं।[1] उनके कथन के इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाएगी :

> "विश्वविद्यालय ज्ञान के संकलन और वितरण यांत्रिक संगठन कदापि नहीं बनने चाहिएं। उनके माध्यम से तो लोगों को अपना बौद्धिक आतिथ्य, अपनी मानसिक सम्पदा दूसरों को अर्पित करनी चाहिए, और बदले में सगर्व शेष संसार के उपहारों को पाने का दावा करना चाहिए।"[2]

इसके बाद जिस विषय पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ध्यान दिया वह यह था कि शिक्षा की अर्न्तवस्तु क्या हो। उनका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के समूचे स्वभाव को अभिव्यक्ति देना होना चाहिए। दूसरे, इससे छात्र में अपने को पूर्णतया व्यक्त करने की क्षमता आनी चाहिए। उनके विचार से, यह उद्देश्य केवल ऐसी शिक्षा व्यवस्था से ही पूरा हो सकता है जो उसकी केवल बौद्धिक क्षमता को ही नहीं बल्कि भावनात्मक क्षमता को भी विकसित करे। छात्र को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए कि वह अपने विचारों को शब्दों की भाषा द्वारा, जो बुद्धि की भाषा है, और अपनी भावनाओं को उनकी विशिष्ट भाषाओं द्वारा व्यक्त करने की क्षमता

1. **विश्व-भारती**, 12
2. **ऐन ईस्टर्न यूनिवर्सिटी**

साथ-साथ विकसित करे। ये अन्य भाषाएं, उनके अनुसार, "रेखाओं और रंगों, ध्वनियों और गतियों की भाषाएं" हैं।[1] दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार, रेखाकृति और चित्र, संगीत और नृत्य भावना की भाषाएं हैं।

इस प्रकार उनके विचार में मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए, आदर्श शिक्षा-व्यवस्था को न केवल बुद्धि के लिए बल्कि भावनाओं के विकास के लिए भी आहार प्रदान करना चाहिए। परन्तु उन्हें यह देखकर खेद हुआ कि पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में "प्रायः सारा जोर बौद्धिक प्रशिक्षण पर ही दिया जाता है।" विज्ञान हो या मानविकी या औद्योगिकी, वे बुद्धि के लिए तो प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हैं, पर भावनात्मक क्षमता की गम्भीर अपेक्षा होती है। प्रसंगवश यह बता दें कि ललित कलाओं के प्रशिक्षण से केवल भावनात्मक क्षमता का ही विकास नहीं होता, बल्कि छात्र को शब्दों की भाषा से अलग अन्य माध्यम द्वारा अपने को व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त करने में भी सहायता मिलती है, और उससे जीवन के अन्य पहलुओं द्वारा मनुष्य को और भी अच्छी तरह समझने में सहायता मिलती है। इसलिए उनका यह विचार था कि विश्वविद्यालयों को ललित कलाओं के अन्तर्गत आनेवाले विषयों को मात्र मौन स्वीकृति ही नहीं, बल्कि विज्ञान और मानविकी की तरह सम्मानजनक स्थान देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, पाठ्य-क्रम में दोनों वर्गों के विषय शामिल किये जाने चाहिए। इस विषय पर उनके विचार कितने स्पष्ट थे यह नीचे के उद्धरण से पता चल जायेगा :

> "शिक्षा का बड़ा उपयोग केवल तथ्यों को एकत्रित करना नहीं, बल्कि मनुष्य को जानना और अपने को मनुष्य के आगे व्यक्त करना है। हर मानव प्राणी का यह कर्त्तव्य है कि वह, कम-से-कम कुछ हद तक, न केवल बुद्धि की भाषा में बल्कि व्यक्तित्व की भाषा में भी, जो कला की भाषा है, दक्षता प्राप्त करे।"[1]

इसी सुर में उन्होंने आगे कहा कि कला की भाषा से अनभिज्ञ रहते

1. एन ईस्टर्न यूनिवर्सिटी

हुए जो पालन-पोषण है, उससे मनुष्य मानव जाति की महान विरासत के ज्ञान और उपयोग से वंचित रहता है। इस विचार के अनुरूप, उनकी इच्छा थी कि इस प्रस्तावित विश्वविद्यालय को ललित कलाओं के अन्तर्गत आने वाले विषयों के शिक्षण की सुविधाएं प्रदान करनी चाहिएं। बहुत ही गम्भीरता के साथ उन्होंने यह कहा कि "संगीत और ललित कलाएं किसी भी राष्ट्र की आत्माभिव्यक्ति के सर्वोच्च साधनों में से हैं, जिनके बिना लोग गूंगे रहते हैं।[1]

तीसरे, उन्होंने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि शिक्षा-संस्थान प्रायः ज्ञान के मात्र वितरण-केन्द्र बनने की ओर प्रवृत होते हैं। परन्तु यह, उनके ख्याल से, उनका एक गौण कार्य है, मुख्य कार्य ज्ञान का सृजन होना चाहिए। सृजनात्मक प्रवृत्तिवाले विद्वानों को उनमें लाना चाहिए और उन्हें अपनी प्रतिभाएं विकसित करने की सुविधाएं देनी चाहिए, जिससे कि वे नये ज्ञान का सृजन कर सकें। इस तरह के शिक्षकों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने से छात्रों में भी वह मनोवृत्ति आएगी, और वे स्वयं भी ज्ञान के सृजन के लिए आवश्यक प्रेरणा ले सकेंगे।[2]

अन्तिम बात, उनका यह खयाल था कि शिक्षा-संस्थान को अपने भौगोलिक और सामाजिक परिवेश से कटकर अलग-थलग नहीं रहना चाहिए। जिस क्षेत्र में वह स्थित है उसकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के साथ एक अंग की तरह वह जुड़ा होना चाहिए। संस्थान में अर्जित तकनीकी ज्ञान का स्थानीय क्षेत्रों में, वहां के लोगों की आर्थिक खुशहाली को बढ़ाने के लिए, प्रयोग होना चाहिए। इससे संस्थान को जन-जीवन के केन्द्र में स्थान पाने और एक अंग की तरह उससे जुड़ने में सहायता मिलेगी।

प्रस्तावित विश्वविद्यालय को आकार देने के लिए जो आम सिद्धान्त अपनाये गये वे संक्षेप में यही थे। दिसम्बर, 1918 में इस परियोजना पर तेजी से काम शुरू हो गया। अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ को उन्होंने इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह इस नये भार को अपने पिता के साथ वहन करने के लिए स्थायी रूप से शान्तिनिकेतन में ही रहे। अपने सिद्धान्तों के अनुरूप, वे कुछ सुप्रतिष्ठित सृजनशील चिन्तकों को इस आशा से वहां लाये कि उनके

---

2. दा सेंटर ग्राफ इंडियन कल्चर

3. विश्व-भारती

गिर्द एक नया वातावरण बनाया जा सकेगा। संस्कृत के प्रख्यात विद्वान विधुशेखर शास्त्री ने संस्कृत, पाली और प्राकृत का भार सम्भाला। बौद्ध संस्कृति के शिक्षण के लिए श्रीलंका से एक विद्वान आए। प्राचीन हिन्दी साहित्य का भार सम्भालने के लिए क्षितिमोहन सेन आये।

ललित कलाओं में विशेष ध्यान चित्रकला और संगीत पर दिया गया। चित्रकला विभाग के लिए उन्होंने उस समय के दो सब से प्रमुख चित्रकारों को चुना, जिन्होंने प्रशिक्षण चित्रकला की बंगला शैली के संस्थापक अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से लिया था। वे थे, नंदलाल बोस और सुरेन्द्रनाथ कार।

संगीत के लिए वे भीम शास्त्री और विष्णुपुर घराने के नकुलेश्वर बनर्जी को लाए। दोनों की शास्त्रीय संगीत में अच्छी पैठ थी।

अब तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों ने, न केवल अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण बल्कि लालित्य के कारण भी, अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। अतः बंगाल में वे, जैसा कि होना चाहिए था, बहुत लोकप्रिय हो गए। इसलिए, सार्वजनिक मांग को पूरा करने के लिए, शान्तिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों को सिखाने की भी व्यवस्था करनी पड़ी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस मामले में बड़े ही भाग्यशाली रहे क्योंकि उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिल गया जिसकी संगीत-चेतना अत्यन्त विकसित थी। वह और कोई नहीं उनके भाई का पोता दिनेन्द्रनाथ ठाकुर था जिसकी धुनों को याद रखने की क्षमता अद्भुत थी। किसी को एक बार गीत गाते सुनकर ही वह उसे बिल्कुल उसी तरह पेश कर सकता था और स्मृति से ही उसकी स्वरलिपि भी तैयार कर सकता था।

इस विलक्षण क्षमता के कारण दिनेन्द्रनाथ न केवल अच्छा संगीत-शिक्षक होने की योग्यता रखता था, बल्कि वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों को संगीतबद्ध करने में भी सहायता कर सका। रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने गीतों के संगीत के बारे में बहुत ही तनकमिजाज थे, क्योंकि इस विषय में उनके कुछ अपने ही सिद्धान्त उनके दिग्दर्शक थे। अतः अपने सभी गीतों को स्वयं ही संगीतबद्ध करने की उनकी जिद थी। खुद अपने सिर लिया यह भारी काम रवीन्द्रनाथ ठाकुर कठोर श्रम की अपनी असाधारण क्षमता के कारण ही पूरा कर सके। इस चीज को ध्यान में रखते हुए कि उनके गीतों की संख्या लगभग 2,000 है, यह अपने-आप में एक जबर्दस्त कारनामा माना जाना चाहिए। इस मामले में दिनेन्द्रनाथ ने उन्हें बहुत ही कारगर मदद दी। स्वरलिपियों के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्मृति अच्छी नहीं थी, और किसी खास गीत के लिए जो संगीत वे

रचते थे उसे हू-ब-हू याद नहीं रख सकते थे। अतः अपने गीत को संगीतबद्ध कर देने के बाद, उसके पुनः प्रस्तुतीकरण तथा उसकी स्वरलिपि के लिए उन्हें दिनेन्द्रनाथ पर निर्भर रहना पड़ता था। कवि जब गीत को एक बार संगीतबद्ध कर देते थे, तो फिर उसके संगीत को याद रखने और उनकी स्वरलिपि अंकित करने का काम दिनेन्द्र संभाल लेता था। इसलिए, उसकी मदद के बिना रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत स्थायी रूप में कभी अंकित किये ही नहीं जा सकते थे। इस विषय में उसके योगदान की रवीन्द्रनाथ ठाकुर पूरी कद्र करते थे और उसे "अपने सभी गीतों का भण्डारी और रक्षक देवदूत' कहा करते थे। इस प्रशंसा का वह पूर्णतया अधिकारी था।

इस तरह मूल आधार जब तैयार हो गया, तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक औपचारिक समारोह द्वारा विश्वविद्यालय का उद्घाटन करने का निश्चय कर लिया। इसके लिए उन्होंने 22 दिसम्बर, 1921 तारीख चुनी, जो बंगला संवत् के अनुसार पौष 8, 1328 थी, और उनके पिता ने जिस दिन ब्रह्म धर्म स्वीकार किया उसकी वार्षिक जयंती थी। सुप्रतिष्ठित दार्शनिक डा. ब्रजेन्द्रनाथ सील ने समारोह की अध्यक्षता की। प्रोफेसर सिल्वन लीवाइ ने उसमें भाग लिया, जो समारोह के बाद कुछ व्याख्यान देने के लिए वहां टिके रहे और उनके निर्देशन में चीनी भाषा और साहित्य के अध्ययन की एक योजना स्वीकार की गई। समारोह के अनुरूप अपने उदात्त भाषण में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्वविद्यालय का भार एक बोर्ड को सौंप दिया और साथ ही भू-सम्पत्ति संस्थान को भेंट कर दी। उन्होंने उस समय तक लिखी गई अपनी पुस्तकों का कापीराइट भी विश्वविद्यालय को दे दिया, ताकि उनसे प्राप्त रायल्टी उसके वित्तीय दायित्वों को पूरा करनेवाली आवर्ती आय का केन्द्र बन सके।

अपने इस विचार के अनुरूप कि शिक्षा-संस्थान को अपने आसपास के इलाकों की कल्याणकारी गतिविधियों में भाग लेकर स्थानीय जीवन का अंग बन जाना चाहिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस विश्वविद्यालय का एक ग्रामकल्याण विभाग खोलने का भी निश्चय किया। इस उद्देश्य को ध्यान में रख उन्होंने सुरुल नामक गांव में, जो शान्तिनिकेतन से केवल तीन किलोमीटर की दूरी पर था, कुछ सम्पत्ति ले ली और जिस साल उनके विश्वविद्यालय का औपचारिक रूप से उद्घाटन हुआ था उसी वर्ष श्रीनिकेतन नाम से एक ग्राम-कल्याण विभाग खोल दिया। आशय यह था कि यह पूरक संस्थान आसपास के गांवों के भौतिक कल्याण की फिक्र करे।

इस संस्थान के विकास में लेनर्ड एल्महर्स्ट नामक एक आदर्शवादी अंग्रेज युवक ने, जिसका उल्लेख हम पहले एक अध्याय में कह चुके हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बड़ी योग्यता से सहायता की। एल्महर्स्ट, 1915 में भारत की यात्रा कर चुका था और उसने रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि भी पढ़ी थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उससे 1920 में न्यूयार्क में भेंट हुई थी, जहां वह तब कृषि-विद्या का प्रशिक्षण ले रहा था। रवीन्द्रनाथ तुरन्त ही उसे बहुत पसन्द करने लगे और, अपने अन्तःकरण की प्रेरणा पर, उन्होंने उससे तभी अपने साथ भारत चलने और उनके ग्राम-संस्थान को विकसित करने को कहा। परन्तु एल्महर्स्ट पहले अपना प्रशिक्षण पूरा कर लेना चाहता था, पर उसने वायदा किया कि उसके बाद वह **श्रीनिकेतन** आएगा। अपने वायदे के मुताबिक 1921 में प्रशिक्षण पूरा हो जाने पर, उसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को तार द्वारा यह संदेश भेजा : "पढ़ाई पूरी हो गई। क्या मैं आ सकता हूं?" टैगोर उस समय आर्थिक कठिनाइयों का सामना कर रहे थे और यह सोचकर कि उसके कारण पड़नेवाले आर्थिक दायित्व को उठाना असम्भव है, उन्होंने जवाब में तार दिया : "मत आइए; अभी फण्ड नहीं है।"

इससे जहां यह पता चलता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कितने सच्चे स्पष्ट वक्ता थे, वहां इसपर एल्महर्स्ट की जो प्रतिक्रिया हुई उससे उसके चरित्र के सर्वोच्च गुणों की गहरी झलक मिलती है। फण्ड का न होना एल्महर्स्ट के लिए कोई रुकावट नहीं थी और वह, चेतावनी के बावजूद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास आ गया और सारा खर्च करने को तैयार हो गया। अपनी मित्र श्रीमती स्ट्रेट से मिली उदार सहायता से उसने अपनी योजना के लिए धन का प्रबन्ध कर लिया।

धन सीमित होने के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर बड़े क्षेत्र में काम नहीं कर सकते थे पर उसके लिए उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि वे यह जानते थे कि कार्य का परिणाम नहीं बल्कि श्रेष्ठता महत्व रखती है। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि, देहाती इलाकों की समस्याओं के समाधान ढूंढने के लिए, यह योजना प्रयोग शुरू करने और परिमाणों का अध्ययन करनेवाली एक मार्गदर्शी प्रज्वलित दीप है, स्वर्ण दीप नहीं।"
प्रज्वलित दीप है, स्वर्ण दीप नहीं।"

इस योजना को कार्यान्वित करने का भार एल्महर्स्ट को सौंपते हुए उन्होंने उसपर कोई पूर्वकल्पित कार्यक्रम नहीं थोपा, जो बहुत ही ठीक बात थी।

परन्तु नीति-सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से वे नहीं रुके, जो यह दिखाते हैं कि भारत के ग्रामीण लोगों के स्वभाव के बारे में उनकी अन्तर्दृष्टि कितनी गहरी हो चुकी थी।

ग्राम-पुनर्निर्माण कार्य क्या बाहरी सहायता से चलना चाहिए, यह एक बड़ा सवाल था जो तय करना था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जवाब जोरदार 'ना' था, क्योंकि वे यह महसूस करते थे कि, "गांव को बाहर से समृद्ध करने का जो प्रयास है वह कृत्रिम है।"[1] इसी पक्ष में बोलते हुए उन्होंने दलील दी : "इसका मतलब भविष्य को लूट कर वर्तमान के लिए दानी बनना है। मरुस्थल तक में ऐसा स्रोता ढूंढा जा सकता है जो खुद अपने को पूरा करता है। ऐसा स्रोता कभी नहीं सूखता।"[2]

उन्होंने यह भी निर्णय लिया कि ग्राम-समस्याओं की ओर हमारा रुख सर्वांगीण होना चाहिए, आंशिक नहीं। यह विशेष रूप से उनकी अपनी धारणा थी। सर्वांगीण इस साधारण अर्थ में नहीं कि ग्राम-जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण समस्याएं एक-साथ सुलझाने का प्रयत्न होना चाहिए। बल्कि, इस अर्थ में कि समूचे मानव के सर्वश्रेष्ठ प्रयास इससे सामने आने चाहिएं। वे यह भी महसूस करते थे कि ग्राम-कार्यकर्ता को केवल अपने दिमाग, हाथों और तकनीकी ज्ञान का ही उपयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि उसकी अपने काम में भावनात्मक रुचि भी होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने कहा :

> "समुदाय का कल्याण बहुत-से घटकों का संयोग है। वे एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। उनमें से किसी एक को यदि हम अलग रखते हैं तो परिणाम से वंचित रह जाते हैं। स्वास्थ्य, बुद्धि, ज्ञान, काम और खुशी का अहसास—इन सबके एक-साथ मिलने से ही मनुष्य का कल्याण पूरा होता है।"[3]

इन आम मुद्दों को मार्गदर्शक सिद्धांत मानते हुए, एल्महर्स्ट ने श्रीनिकेतन के इर्दगिर्द के गांवों में ग्राम-पुनर्निर्माण के बहुत ही दिलचस्प प्रयोग किए। इस प्रक्रिया में उसने ग्राम-विकास का एक कारगर कार्यक्रम और ऐसी पद्धति विकसित की जो बहुत-सी बातों में उस 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' का पूर्व-प्रयोग था जो हमारे देश में कई साल बाद, पहली पंचवर्षीय योजना के

1. श्रीनिकेतन में शिल्प भंडार का उद्घाटन करते हुए भाषण
2. वही
3. कालान्तर, स्वराज साधन

एक भाग के रूप में, योजना आयोग के सीधे निरीक्षण में शुरू किया गया। जो मुद्दे समान हैं, उनका संक्षेप में उल्लेख फलदायी रहेगा, क्योंकि उससे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कार्यक्रम के सर्वोच्च पहलू उभर कर सामने आ जाएंगे।

योजना आयोग द्वारा अपनाए गए कार्यक्रम की तीन मुख्य विशेषताएं हैं : (1) यह एक बहुद्देशीय कार्यक्रम है जिसमें ग्राम-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक-साथ गतिविधियों की व्यवस्था है; (2) इसे एक विशुद्ध स्वावलम्बी कार्यक्रम बनना है जिसमें देहात के लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाना है कि वे अपनी समस्याओं को सर्वथा अपनी ही कोशिशों से सुलझाएं और बाहर से कम-से-कम तकनीकी तथा अन्य सहायता लें; (3) ग्राम-सुधार के लिए यह विशेष पद्धति अपनायी गई कि लोगों को उन्नत तरीकों की कार्य-साधकता के बारे में सन्तुष्ट कर देने के बाद उन्हें अपनाने को राजी किया जाए, लोग इस पद्धति को इसके तकनीकी नाम—'एक्सटेंशन सर्विस'—से अधिक जानते हैं।

एल्महर्स्ट के प्रयोगों के जो परिणाम निकले उनमें ये सभी विशेषताएं पहले से थीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अपनाये गये आम सिद्धान्तों से, जिनका पहले उल्लेख हो चुका है, पता चलेगा कि पहली दो विशेषताओं की उनके द्वारा पहले ही कल्पना कर ली गई थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर चाहते थे कि ग्राम-विकास कार्यक्रम लोगों के अपने वैयक्तिक और सामुदायिक, दोनों प्रकार के प्रयासों द्वारा कार्यान्वित किया जाए और उसे बाहर से मदद नहीं मिलनी चाहिए। दूसरे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने कार्यक्रम को जो बहुद्देशीय स्वरूप देना चाहते थे उसका क्षेत्र योजना आयोग द्वारा स्वीकार किये गये कार्यक्रम से अधिक विशाल था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की योजना ने इस तथ्य को स्वीकार किया था कि स्वैच्छिक कार्य से सब से अच्छा परिणाम प्राप्त करने के लिए उसे भावनात्मक क्षमता से जोड़ना आवश्यक है। जिन लोगों की आप सेवा करते हैं वह उनके प्रति प्रेम की भावना से प्रेरित होना चाहिए या धर्मनिष्ठा की अभि-व्यक्ति होना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर चाहते थे कि सामाजिक कार्य इसी भावना से किया जाना चाहिए। उन्होंने स्वयंसेवकों के दल भी संगठित किये थे और उनका नाम व्रतीदल रखा था, जो इस बात का द्योतक है कि दल अपने कार्य को गम्भीरता के साथ, और जिन्हें उससे लाभ होना है उनके प्रति सम्मान की भावना के साथ, करने में रुचि रखता है।

'एक्सटेंशन' पद्धति की खास विशेषताएं ये हैं कि क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं

को तकनीकी ज्ञान प्रदान करने के लिए, प्रयोगशाला और क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं के बीच निकट सम्बन्ध कायम रखा जाता है। किसान से समस्या प्राप्त कर तकनीकी लोगों के सामने रखी जाती है, जो प्रयोगशाला में उनका समाधान ढूंढते हैं। फिर वह तकनीकी ज्ञान अमल में लाने के लिए किसान के पास ले जाया जाता है। एल्महर्स्ट के प्रयोगों ने भी ऐसी ही पद्धति विकसित की थी।[1]

इस तरह एक कार्यक्रम पनपा जिसमें खेती के तरीकों में सुधार, कुटीर उद्योगों के पुनरुद्धार, प्रौढ़ साक्षरता, सहकारी बैंकिंग और सहकारी चिकित्सा-सेवा की व्यवस्था थी, और यह कार्यक्रम उनके विश्वविद्यालय के शिक्षा-कार्यक्रम का एक भाग था। लोगों को ग्राम-पुनर्निर्माण कार्य के लिए प्रेरित करने को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह दीप जलाया। इस दिशा में यह पहला मार्ग-दर्शक प्रयास था और इसका जो परिणाम निकला वह नगण्य नहीं था।

---

1. रवि प्रदक्षिणा, सम्पादक: चारु चन्द्र भट्टाचार्य, पृष्ठ 144

13. चित्रकार के रूप में

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना था, "जहां तक मेरा सवाल है, मेरे चित्रों का स्रोत प्रशिक्षण, परम्परा और चित्रण के सुचिन्तित प्रयास में नहीं है, बल्कि लय की मेरी सहज प्रवृत्ति में और रेखाओं व रंगों के सामंजस्यपूर्ण संयोग से मुझे मिलने वाले आनन्द में है।"[1]

कलाओं के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रवेश की संक्षेप में यही कहानी है लड़कपन से ही अपने प्रिय मनोरंजन, काव्य-रचना में तल्लीन रहने के कारण, उन्हें चित्रकला का प्रशिक्षण लेने की कभी फुर्सत नहीं मिली। पारिवारिक वातावरण में इसके लिए आवश्यक प्रोत्साहन का अभाव रहा हो, यह बात नहीं थी। उनके बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ को परिवार के सदस्यों की छवियां बनाने में गहरी रुचि थी। दोनों भाई परस्पर खूब घनिष्ठ थे और संगीत के अभ्यास में एक दूसरे को गहरा सहयोग देते थे। परन्तु इस उदाहरण ने उन्हें "रेखाओं और रंगों की इस भाषा" की ओर आकर्षित नहीं किया।

कालान्तर में, उनके भतीजे अवनीन्द्रनाथ ने, जो उनसे दस साल छोटा था, 'बंगाल स्कूल आफ आर्ट' की स्थापना की, जो ठाकुर परिवार की दो शाखाओं की साझी चारदीवारी के अन्दर ही था। अवनीन्द्रनाथ का स्टूडियो कलाकारों के एक दल का केन्द्र बन गया, जिसमें प्रतिष्ठित विदेशी कलाकार भी भाग लेते थे। पर ये गतिविधियां भी गुरुदेव को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकीं।

इसका कारण ढूंढने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। टैगोर तब तक साहित्यिक गतिविधियों में गले तक डूब चुके थे और द क्विन्जी ने जिसे "सशक्त साहित्य" कहा है वे उसकी सभी शाखाओं में फैली थीं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्तिनिकेतन की अपनी देहाती बस्ती में शैक्षणिक गतिविधियों में भी गम्भीर रुचि ले रहे थे। वैसे, जैसा कि बाद की घटनाओं से सिद्ध हो गया, उनमें चित्रकला के लिए रुचि या कौशल का अभाव नहीं था। जो चीज उन्हें उधर ध्यान देने से रोक रही थी वह मुख्यतया

---

1. चित्र लिपि, खण्ड-2 माई पिक्चर्स

में चुभने लगती, तो मैं अक्सर जो काम सामने होता उसे जारी रखने से भी अधिक समय उस काट-छांट को एक दयालु लयात्मक पूर्णता देने में लगा देता।''[1]

इस विवरण से पता चलता है कि उनके भीतर का कलाकार जाग रहा था। चित्रकला में उनके प्रथम प्रयास किस तरह के थे? विचित्र संरूपों ने आकार लिया, जिनमें से अधिकांश का कोई अर्थ नहीं था, बस उन आधिकारों में लयात्मकता थी। कभी-कभी उनका रूप अद्भुत हो जाता और वे पौराणिक पशुओं या प्रागैतिहासिक पक्षियों या सरीसृपों जैसे लगते। ये कृतियां स्पष्ट रूप से अमूर्त किस्म की थीं।

बाद में चित्रों की तकनीक और स्वरूप दोनों में परिवर्तन आया। ब्रुश के प्रयोग में प्रशिक्षित न होने के कारण, शुरू की रेखाकृतियों और चित्रों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत ही अनोखे तरीके अपनाए। पहले जो चीजें उन्हें आसानी से उपलब्ध थीं वे थीं--कलम और स्याही। रेखाकृतियों के लिए वही उनके उपकरण बने। सतह को स्याही से ढकने की जरूरत महसूस होने पर वे कलम के मोटे सिरे को इस्तेमाल करते। बाद में स्याही को हलकी, गहरी दो तरह की रंगतों में फैलाने के लिए वे उंगली के सिरों या फटे कपड़े के टुकड़ों को काम में लाते। शुष्क रंगों, ब्रुश और रोगनों का प्रयोग उन्होंने और भी बाद में शुरू किया।[2]

तकनीक में सुधार के साथ-साथ उनके चित्रों का स्वरूप भी बदला। अमूर्त संरूपों और आकारों से, जिनमें काल्पनिक पशुओं और पक्षियों का संकेत रहता था, वे यथार्थवादी रंगतवाले नए रूपों और आकारों पर आ गए। स्त्रियों के चेहरे, मुखौटे, हाव-भाव करती आकृतियां, विचारों और भावों का संकेत देते मानव-रूप आकार लेने लगे। उनका रुझान अब यथार्थवादी आकार की ओर था। बाद में, दृश्यों के चित्रण ने महत्वपूर्ण स्थान ले लिया। इस तरह के दृश्यों में प्राय: सुनहरी आभा से आलोकित, तीसरे पहर के चमकीले आकाश की पृष्ठभूमि में पेड़ों के आकारों का छायाचित्र होता था।

अंडाकार चेहरा, तीखी आगे से मुड़ी नाक और उज्ज्वल आंखोंवाला आंचल से सजा एक सिर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उनके चित्रों में इसकी

---

1. कलकत्ता म्यूनिसिपल गजट—टैगोर मेमोरियल स्पेशल सप्लीमेंट
2. पृथ्वीश नियोगी : ड्राइंग्स एण्ड पेंटिंग्स आफ रवीन्द्रनाथ

बराबर आवृत्ति होती है। इसकी बार-बार उपस्थिति से, इन चित्रों का माडल कौन हो सकता है इस बारे में अटकलबाजियों को उकसावा मिला। ऐसा लगता है कि प्रसिद्ध कलाकार नन्दलाल बोस ने यह प्रश्न कवि से किया था। इसके जवाब में उन्होंने यह कहा बताते हैं कि उज्ज्वल आंखोंवाला, आंचल से सजा यह नारी-मुख, अचेतन रूप से, उनकी मृत भाभी कादम्बरी देवी के माडल पर बना हो सकता है, जिसके चेहरे की छवि उनकी स्मृति में बसी थी।

यहां हम उन्हीं के शब्द उद्धृत करते हैं :

> "नई भाभी की आंखों की छवि मेरे मन में इतनी गहरी अंकित हो गई है कि मैं उन्हें कभी भूल नहीं सकता, और जब मैं छवियां बनाता हूं तो उनकी उज्ज्वल आंखें मेरी नजर के सामने आ जाती हैं। सम्भवतः इसीलिए मेरी छवियों में आंखें उन्हीं की आंखों-जैसी होती हैं।"[1]

इससे हम दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं : प्रथम, इससे पता चलता है कि कवि ने कभी जीवित माडल से चित्र नहीं बनाए, जैसा कि परम्परागत भारतीय कला का चलन रहा है। दूसरे, इससे पता चलता है कि अपनी इस भाभी के लिए मन में गहरा स्नेह था।

उसके आंचल से सजे मुख की स्मृति टैगोर के मन में वृद्धावस्था में भी स्पष्ट थी, इसकी पुष्टि उनकी कविताओं से भी होती है। ये कविताएं जीवन के उस दौर में लिखी गई थीं जब बचपन की स्मृतियां प्रायः उनकी कविताओं का विषय बना करती थीं। नीचे उद्धृत पंक्तियां इसका उदाहरण हैं। इनमें वे जोरासांको के पुश्तैनी घर की छत पर की एक सांझ की याद करते हैं:

"वायलिन कंधे पर टिका
भाई उसपर धुनें निकालते,
जो छत की चोटी पर दिखते
शुक्र तारे से प्रेरित होतीं।
अंग्रेजी का अपना पाठ पूरा कर
मैं भाभी के आगे हाजिर होता,

---

1. मनोरंजन गुप्त: रवीन्द्रनाथ चित्रकला

उनका मुख लाल पाड़ की साड़ी
के आंचल से सजा होता।''[1]

ऐसा लगता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने जीवन के शेष भाग में इस नए शौक में खूब उत्साह से लगे रहे।

1928 में उन्होंने चित्रकला गम्भीरता से अपनायी और तब से 1940 तक कोई दो हजार चित्र बनाए। विश्व-भारती ने **चित्रलिपि** शीर्षक से दो खण्ड प्रकाशित किए हैं जिनमें उनके चित्रों के प्रिंट दिए गए हैं। इन खंडों में कुल 33 प्रतिकृतियां हैं। इनमें पहले खण्ड की प्रतिकृतियां विशेष महत्व रखती हैं। हर चित्र के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की टिप्पणी उन्हीं के द्वारा किए गए उसके अंग्रेजी रूपान्तर के साथ है। ये टिप्पणियां उन चित्रों को समझने में तो सहायता देती ही हैं, साथ ही यह भी बताती हैं कि उनमें से किसी में किसी विचार की अपेक्षा की जाती है या नहीं। इस तरह ये चित्रकला के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्त पर काफी प्रकाश डालती हैं।

उसके परिचय के तौर पर यहां कुछ चित्रों का उल्लेख सुविधाजनक हो सकता है। इस खण्ड की प्रतिकृति सं. 17 में एक मनुष्य एक विशाल सरीसृप की पीठ पर बैठा दिखाया गया है। जाहिर है यह गुरुदेव के इस प्रिय विचार को अभिव्यक्ति देता है कि विकास मनुष्य में एक महत्त्वपूर्ण रूप ले लेता है; वहां मन से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उनकी समस्याओं को बुद्धि के प्रयोग से सुलझाएगा, प्रागैतिहासिक सरीसृपों की तरह शरीर की विराट वृद्धि से नहीं जो जीवन को अधूरे मन के साथ जकड़ देती है।[2]

इस खण्ड की अन्तिम प्रतिकृति में पक्के फर्श की दरार में से फूटते दो फूल दिखाए गए हैं, जिसका यह आशय है कि 'बुद्धू पत्थर' पृथ्वी की आवाज को दबा नहीं सके। यह भी उनके एक और विचार की अभिव्यक्ति है। यह आधुनिक मानव की असंतुलित शहरी जीवन-प्रणाली की, जिसमें प्रकृति उसके जीवन से बहिष्कृत होती है, निन्दा करता है। कवि पुराने जमाने के प्राकृतिक जीवन में लौटने की वकालत करता है, जो अत्यधिक प्रौद्योगिक विकास से कलुषित नहीं था। यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि यह विचार उनके एक प्रतीक नाटक **रक्तकरबी** का मुख्य विषय है।

1. चरार छवि—बालक
2. रिलिजन ऑफ मैन—द क्रियेटिव स्पिरिट

इस तरह के चित्र अमूर्त कहलानेवाली चित्रकला से कोसों दूर हैं। ऐसे चित्र वस्तुतः रंगों और रेखाओं में लिखे गए गीत हैं और उदात्त विचारों को अभिव्यक्ति देते हैं। ये वाट्स के चित्रों की तरह हैं, जिन्होंने इस माध्यम का उपयोग इसी तरह किया था। हम उनके प्रसिद्ध चित्र 'प्रेम और जीवन' या 'आशा' का उल्लेख कर सकते हैं। अन्तर केवल यह है कि वाट्स ने यथार्थवादी शैली का उपयोग किया था जो क्लासिकल यूरोपीय कला की विशेषता थी, जब कि गुरुदेव ने अपनी निजी शैली अपनाई जिसमें रेखाओं और रंगों का उपयोग बहुत ही किफायत से किया गया है।

जैसा कि नन्दलाल बोस ने बताया है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस मामले में भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हैं।[1] रंगों का बारीकी से प्रयोग करके गहराई दिखाने की भारतीय चित्रकारों को कभी फिक्र नहीं रही। वे तो, परिरेखाओं को दिखाने के लिए, सतहों को एक ही रंगत के रंगों से भर कर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। वस्तुतः, रवीन्द्रनाथ ठाकुर रेखाओं और रंगों के उपयोग में किफायत कर इस भावना को और भी आगे ले गए। उदाहरण के लिए, मानव आकृति को दिखाने के लिए वे चेहरे के चित्रण में आंखें, नाक और होंठ तक बनाने की चिन्ता नहीं करते, बल्कि केवल एक अंडाकार सतह ही प्रदर्शित करते हैं, शेष कला-पारखी की कल्पना के लिए छोड़ देते हैं। इसी लिए नन्दलाल बोस ने कहा कि ऐसे उदाहरणों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र और रेखाकृतियां 'यथार्थवादी न होते हुए भी यथार्थ हैं।'[2]

इससे उनके चित्रों का एक दिलचस्प पहलू हमारे सामने आ जाता है। उनकी रेखाकृतियां और चित्र पहली बार जब उनका आविर्भाव हुआ तो अमूर्त स्वर से शुरू हुए। पर धीरे-धीरे वे विचारों को व्यक्त करने लगे। दूसरे शब्दों में उन्होंने बाद में चलकर अपना अमूर्त स्वरूप छोड़ दिया। गुरुदेव का अपना ख्याल यह था कि जब उन्होंने चित्रकला हाथ में ली तब उनका इरादा उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम के रूप में प्रयुक्त करने का नहीं था। यह बात समझ में आने वाली है, क्योंकि जिन परिस्थितियों में उनके चित्रों का जन्म हुआ उनमें उनकी कला के लिए अन्य दिशाओं में विकसित होने की गुंजाइश ही नहीं थी। शुरू में वे केवल अपनी

1. नन्दलाल बोस: गुरुदेवेर आंका छवि

2. वही

काट-छांट को, जो उनकी सौंदर्य-चेतना को बुरी लगती थी, एक लयात्मक आकार देने की इच्छा से ही प्रेरित थे। वे कहते हैं, "मैं अपनी काट-छांट को नचाने, एक लयात्मक संबंध में जोड़ने, और ढेर को सजावट में बदलने की कोशिश करता हूं।"[1]

अधिक सम्भावना यही लगती है कि यह प्रारम्भिक अनुभव ही उन्हें चित्रकला के बारे में अपने निजी सौन्दर्यमूलक सिद्धान्त की स्थापना कर ले गया, जिसमें वरीयता स्पष्ट रूप से अमूर्त कला को दी गई थी। उनके नीचे दिए गए कथन से यह सिद्ध हो जाएगा :

> "लोग प्राय: मुझ से मेरे चित्रों का अर्थ पूछते हैं। अपने चित्रों की तरह मैं मौन रहता हूं। उन्हें अभिव्यक्ति देनी है, स्पष्टीकरण नहीं। उनके अपने रूप के पीछे प्रच्छन्न ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके अन्वेषण के लिए विचारों की और वर्णन के लिए शब्दों की जरूरत हो। उनके रूप में ही यदि उनकी चरम सार्थकता है तब तो वे रहते हैं, अन्यथा रद्द कर दिये जाते हैं और भुला दिये जाते हैं, भले ही उनमें कोई वैज्ञानिक सत्य या नैतिक औचित्य क्यों न हो।"[2]

उनका प्रारम्भिक अनुभव इस तरह के सिद्धान्त को निश्चय ही उचित ठहराता था। यह दृष्टिकोण रखने के कारण उनका ख्याल था कि वे काव्य और चित्रकला में स्पष्ट भेद कर सकते हैं। काव्य यह मांग करता है कि प्रयुक्त अभिव्यक्ति का अर्थ होना चाहिए, जब कि चित्रकला ऐसा करने को बाध्य नहीं है। उसे ऐसे रूप प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता है जिनके लिए विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम बनना आवश्यक नहीं है। यह विचार उनकी एक कविता में भी दोहराया गया है जो इस विषय पर उनके रुख को अंकित करती है।

उसके प्रासंगिक अंश का भावानुवाद इस प्रकार है :

> मैं चित्रकला के जादू में फंस गया हूं।
> साहित्यिक रचना धनिक की बेटी है
> वह अपने साथ बहुत अर्थ लाती है,

---

1. चित्रलिपि, खंड-2—मेरे चित्र
2. वही

वह बातूनी है उसे खुश रखने को
बहुत सोच-विचार जरूरी है।
पर चित्रकला चुप रहने वाली है
वह अर्थ भी नहीं रखती,
उसके साथ मेरा व्यवहार
किसी प्रयोजन से प्रेरित नहीं है।[1]

मूल बंगला कविता ऐसी भाषा में बुनी है जिसका अनुवाद बहुत ही कठिन है। उसमें श्लेष का स्पष्ट रूप से प्रयोग हुआ है। 'अर्थ' शब्द धन और आशय दोनों का द्योतक है। भाव यह है कि कविता "वाचाल है और सदा अर्थ लिए होती है," जबकि चित्रकला चुप रहने वाली है उसकी प्रवृत्ति "बोलने" की ओर नहीं है।

चित्र भी "बोलते" हैं और विचारों या भावनाओं को चित्रित करते हैं—यह तथ्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नजर न पड़ा हो—ऐसा नहीं था। और विवेचन के बाद, उनका यह ख्याल बना कि चित्रकला की प्रवृत्ति अर्थों और विचारों की वाहक की अपनी भूमिका को छोड़ने और अमूर्त की दिशा में विकसित होने की है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में वह प्रतिरूपात्मक स्वरूप धारण करती हैं, पर उसका रुझान अमूर्त बनने की ओर होता है। उनके विचार में उसके विकास का मार्ग उसी ओर है; और अमूर्त कला में जो स्वतन्त्रता मिल सकती है उसे प्राप्त करके ही, खुद संरूप को मूल्य का मापदण्ड बना कर ही, वह पूर्ण विकसित हो सकती है।

इस विषय में कवि संगीत और चित्रकला में समानता के कुछ बिन्दु पाते हैं। संगीत का उपयोग भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में किया जा सकता है, पर उसमें अमूर्त संगीत के रूप में एकाकी पनपने और विकसित होने की दुर्लभ क्षमता है, जैसा कि वाद्य संगीत में या भारतीय शास्त्रीय संगीत के आलाप की तरह के गान में देखा जा सकता है। उनके विचार में चित्रकला भी अमूर्त की दिशा में पनपने की ऐसी ही क्षमता रखती है।

इस प्रस्थापना के समर्थन में वे अपने तर्क को इस तरह आगे बढ़ाते हैं :

1. शेष सप्तक पद्य 16

> "आरम्भ में राग निःसंदेह शब्दों के साथ था और उसमें समाई भावनाओं को विवृत करता था। परन्तु संगीत ने अधीनता का यह बंधन उतार फेंका और वह शब्दों और अक्षरों से, जो अनिश्चित थे, प्रथक् हुई भावावस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने लगा। वास्तव में, यह मुक्त संगीत यह नहीं मानता कि शब्दों में व्यक्त हो सकने वाली भावनाएं उसके प्रयोजन के लिए आवश्यक हैं, यद्यपि संगीत-रचनाओं में उनका गोण स्थान हो सकता है। स्वाधीनता के इस अधिकार ने संगीत को उसकी महानता दी है और मुझे ऐसा लगता है कि चित्र और शिल्पकलाओं का विकास इसी दिशा में बढ़ता है, उसका लक्ष्य प्राकृतिक तथ्यों या घटनाओं के साथ नितान्त सम्बन्ध से मुक्त होना होता है।"[1]

परन्तु यह रुख ऐसा है जो अन्य कलाओं के, यहां तक कि संगीत के भी, बारे में उनके अंगीकृत विचारों के प्रतिकूल था। अपने जीवन में ज्यादातर वे सृजनात्मक साहित्य के आराधक रहे, इसलिए वे ऐसे रुख के पक्षपाती थे जिसे किसी भी कला का अमूर्त विकास पसन्द नहीं था। उनके अनुसार, कला-वस्तु केवल देह ही नहीं बल्कि आत्मा भी होनी चाहिए। उसे किसी विचार का द्योतक या किसी अर्थ का वाहक होना चाहिए, अन्यथा उसमें वह आंगिक एकता नहीं आ सकेगी जो सौंदर्यमूलक भावना को जन्म देती है।

हम मानते हैं कि संगीत में, गणित की तरह, अमूर्त की दिशा में विकसित होने की क्षमता है। परन्तु गुरुदेव को स्वयं यह बात पसंद नहीं थी कि संगीत उस तरह विकसित हो। शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा, जिसकी प्रवृत्ति अमूर्त की दिशा में बढ़ने की है, उन्हें लोक गीतों से अधिक अनुराग था। क्योंकि वे विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं, और वह अपना यह अनुराग बड़े उत्साह से प्रकट करते थे। उनके अनुसार, शास्त्रीय संगीत गलत बिन्दु पर बल देता है। संगीत में विस्तृत अलंकरण से विचार दब जाता है। वे उसकी तुलना में नारी को वस्त्रों से लाद देने से करते हैं,

---

1. चित्रलिपि, खंड 2—मेरे चित्र

उसका सहज सौन्दर्य बढ़ता नहीं बेकार हो जाता है।
वे कहते हैं :

> "यह ऐसा ही है जैसे किसी छरहरी सुन्दर रमणी को लहंगे और दुपट्टे की हजार परतों में लपेट देना। लहंगा कीमती हो सकता है, पर सौन्दर्य को ढक देने का साहस उसके लिए उचित नहीं है। इस विचित्र विकृति का कारण यह है कि उस्ताद गायकों के मन में यह ख्याल जम गया है कि संगीत का मुख्य उद्देश्य गान को खुद अपना सौन्दर्य व्यक्त करने देना नहीं, बल्कि लयकारी के जोरदार प्रदर्शन से बहुत सारे भाग उठाना है।"[1]

उनके अपने गीत ऐसे आदर्श से प्रेरित हैं जिसमें जोर विस्तृत लयकारी पर नहीं, बल्कि विषय की अभिव्यक्ति पर है। दर-असल, दो हजार से ऊपर स्वरचित गीतों को खुद ही संगीतबद्ध करने का कष्ट उन्होंने इसी वजह से उठाया। गीत को जो धुन दी गई है उसे विचार के सौन्दर्य को उभीरने में सहायक की भूमिका निभानी चाहिए, उसपर हावी नहीं होना चाहिए--इस बात पर उनका इतना आग्रह था कि बहुत ही अलंकृत धुनों से बचने का वे खास ख्याल रखते थे। यही चीज वास्तव में उनके संगीत को अपनी एक अलग विशेषता देती है। इस प्रकार संगीत के बारे में उनका खुद का सिद्धान्त उस विचार के प्रतिकूल है जो उन्होंने चित्रकला के सम्बन्ध में व्यक्त किया।[2]

नृत्य के संबंध में भी उनका रुख अमूर्त विकास के बराबर विरुद्ध रहा। भारत के **नाट्यशास्त्र** में **नृत्त** किस्म के जिस अमूर्त नृत्य का विस्तार से वर्णन है, वह उन्होंने छोड़ दिया और अपना अनुराग अभिनय किस्म से नाच के लिए दिखाया जिसे कि **नृत्य** नाम दिया गया है। इसमें नृत्य का उपयोग विचार और भावना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में होता है, शारीरिक गतियों के अमूर्त संरूप के रूप में नहीं।

आयु के आठवें दशक में अपनी प्रसिद्ध नृत्य-नाटिकाओं की प्रस्तुति के लिए उन्होंने जो सिद्धान्त निर्धारित किए, यह बात उनसे सिद्ध होती

---

1. पराया

.2 शांतिदेव घोष : रवीन्द्र संगीत, भारतीय संगीते गुरुदेवेर स्थान

हैं। नृत्य का उपयोग इनमें विचार और भावना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में किया गया है। इन नाटिकाओं में जहां अभिनेता अपनी भूमिकाएं शारीरिक गतियों और भंगिमाओं से निभाते, वहां अर्थ को और भी स्पष्ट करने के लिए कवि ने उनमें गीत जोड़े थे, जो अवसर के अनुरूप अकेले या समवेत रूप से रंगमंच के पीछे से गाए जाते थे। शारीरिक गतियों की भंगिमा-भाषा के साथ, इस प्रकार संगीतबद्ध शब्दों की भाषा भी रहती। भंगिमाओं की भाषा जहां असफल रहती, वहां शब्दों की भाषा जिम्मेदारी संभाल लेती और दोनों मिलकर अधिक प्रभाव उत्पन्न करते। इस प्रकार जोर साफ-साफ अर्थ पर था, और उसे संगीत और नृत्य के दोहरे माध्यम से अभिव्यक्ति देने की कोशिश की गई थी। दोनों को अर्थ की सहायक भूमिका निभानी थी।

यह बात बड़ी विचित्र है कि चित्रकला और रेखांकन के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार इससे भिन्न थे और वे यह सोचते थे कि उनके विकास का स्वाभाविक मार्ग अमूर्त की दिशा में है। इसे एक विरोधाभास ही कहना चाहिए कि वे जो कहते थे उसपर अमल नहीं कर सके। आरम्भिक अवस्था में अपनी काट-छांट को एक लयात्मक आकार देने की उनकी कोशिशों से, निःसन्देह, अमूर्त किस्म के चित्रों का ही जन्म हुआ। परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने अपना अमूल स्वरूप छोड़ दिया और प्रतिरूपात्मक स्वरूप अपना लिया। चेहरों और आकृतियों की छवियां, जो किन्हीं विचारों और भावावस्थाओं का संकेत देती हैं, और दृश्यचित्र स्पष्ट रूप से इसी श्रेणी के हैं, जब कि विलक्षण आकार, जो कभी-कभी पौराणिक मगरमच्छों या प्रागैतिहासिक सरीसृपों जैसे लगते हैं, संक्रांति काल के सूचक हैं।

यह विरोधाभास देर-सवेर सामने आना ही था, क्योंकि टैगोर के मन की बनावट कला के अमूर्त सिद्धान्त से मेल नहीं खाती थी। चेतन रूप से वे जिस चीज पर जोर दे रहे थे, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और आदत के बल से ही वे उससे दूर हट गए। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इसके बाद के चित्रों में उनकी कथनी और करनी के बीच चौड़ी खाई पैदा हो गई।

1930 तक गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर इतने चित्र बना चुके थे कि उनसे एक प्रतिनिधि-संकलन प्रदर्शनी के लिए मिल सकता था। इसीलिए उस साल यूरोप और अमरीका की अपनी यात्रा में विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों में अपने

चित्रों की प्रदर्शनियां करने का विचार उनके दिमाग में आया। 1912 में अपनी कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत करने से जो सनसनी पैदा हुई थी, क्या उसकी पुनरावृत्ति होगी? कोई भी निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकता था और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मन में स्वयं शंकाएं थीं, क्योंकि इस विषय में उन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण तो मिला नहीं था। इसलिए उनमें झिझक और क्षमा-याचना का भाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। भारत से बाहर अपनी पहली प्रदर्शनी के लिए उन्होंने जो स्थान चुना वह पैरिस था, वह नगर इस आदर के योग्य भी था। मदाम ओकाम्पो और कांतेस द नांय ने, जो उनकी अच्छी मित्र थीं, गैलरी पिगाले में प्रदर्शनी आयोजित करने में उनकी किस तरह सहायता की यह कथा पहले ही बतायी जा चुकी है।

प्रदर्शनी में रखे गये अपने चित्रों की भूमिका के रूप में उन्होंने जो टिप्पणी लिखी वह इस क्षमा-याचना से शुरू होती है:

> "चित्र-जगत में अपने अनधिकार प्रवेश के लिए, और इस तरह इस कहावत का एक सटीक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कि जहां देवदूत भय और सावधानी से काम लेते हैं वहां अबोधों का झुकाव उतावलेपन की ओर होता है, मुझे क्षमा मांगनी चाहिए। मेरा यह साहस कोई गुण है, कलाकार की हैसियत से मैं ऐसा दावा नहीं कर सकता। क्योंकि यह तो अनाड़ी का अचेतन साहस था, जैसा कि स्वप्न में खतरनाक रास्तों पर चलनेवाले व्यक्ति का होता है। खतरे के प्रति अन्धा होने से ही बच जाता है।"

पर इस तरह डरते हुए सामने आने की कोई जरूरत नहीं थी। यह ठीक है कि उन्हें नियमित प्रशिक्षण नहीं मिला था, पर लय की अपनी नैसर्गिक चेतना और सुलेख में दक्षता के कारण, जिसका प्रचुर प्रमाण उनकी सुन्दर हस्तलिपि में मिलता है, वे एक ऐसा तकनीक विकसित कर सके थे जिसमें दुर्बलता का कोई चिन्ह नहीं था। इसलिए पैरिस में उनकी पहली प्रदर्शनी का खूब सराहा जाना और उससे पश्चिम के कला जगत में एक सनसनी-सी फैल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। यह सनसनी कुछ हद तक वैसी ही थी जैसी कि 1912 की घटनाओं से फैली थी।

गैलरी पिगाले में प्रदर्शित चित्रों की तालिका की अपनी भूमिका में

कांतेस द नांय ने निम्नलिखित मन्तव्य देकर लोगों की प्रतिक्रिया सही-सही मानो पहले ही भांप ली थी :

> "रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी रचना के सम्मुख, जिसकी बारीकी और उज्ज्वलता का हममें से हरेक साक्षी है, शरमा रहे हैं। हम, जैसा कि बिलकुल स्वाभाविक है, उनकी प्रशंसा करते हैं। जहां तक उनका सवाल है, उनके मन में सन्देह है, प्रश्न है, झिझक है और वे मुस्कुरा रहे हैं।"

बाद में जब उनके चित्र बर्लिन में प्रदर्शित किए गए तो वहां भी उनका उतने ही जोश से स्वागत हुआ। **मानहाइम् टागाब्लाट** समाचारपत्र ने लिखा कि "रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रंगों में आश्चर्यजनक रुचि का परिचय दिया है" और उनके "लय और अन्तर्राग से पूर्ण हैं।"

परन्तु सबसे व्यापक और सम्भवतः सही मूल्यांकन, बर्मिंघम स्टि़ी आर्ट गैलरी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों की प्रदर्शनी के बाद, कला-समीक्षक जोसेफ साउथहाल की कलम से आया। वे केवल रवीन्द्रनाथ ठाकुर के तकनीक की परिपक्वता पर ही ध्यान नहीं देते, बल्कि उनके चित्रों को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हुए उनकी भावनात्मक विशेषताओं पर भी ध्यान देते हैं। अपनी कला को अमूर्त की दिशा में विकसित करने का गुरुदेव का विशेषानुराग, जाहिर है, उन चित्रों में उन्हें बिलकुल नहीं मिला, क्योंकि उसका स्थान शीघ्र ही कला के प्रति उनके सामान्य रुख ने ले लिया था। इसलिए इस अध्याय की समाप्ति साउथहाल की टिप्पणी के एक उद्धरण से करना उपयुक्त रहेगा :

> "रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रेखाकृतियां, जैसा कि मैं उन्हें देखता हूं, शक्तिशाली कल्पना की कृति है, चीजों को आभा और रंग में इस तरह देखा गया है जैसे कि सर्वश्रेष्ठ पूर्ववासी देखता है। लय और 'पैटर्न' का इनमें वह बोध है जो ईरानी और भारतीय वस्त्र-शिल्प में मिलता है। रंग-चेतना निःसन्देह उत्कृष्ट है।

पर इसके अलावा भी इनमें बहुत कुछ है। मनुष्यों और पशुओं के भावनात्मक जीवन और अस्तित्व की इनमें गहरी अनुभूति और पकड़ है, जो उनके नाक-नक्श, उनकी गतियों, उनके बाहरी रूपों, रंगों और आभाओं में व्यक्त हुई है।"[1]

14. आखिरी दिन

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रंगारंग जीवन के अब हम अंतिम अध्याय पर पहुंच गए हैं। यद्यपि उन्होंने ऐसा शरीर पाया था जो बहुत ही स्वस्थ और सबल था, पर सत्तर पार कर लेने पर श्रमसाध्य गतिविधियों का दबाव उसके लिए असह्य हो गया। विदेश-यात्राओं की थकान उसके बाद उनके लिए सह्य नहीं रही, इसीलिए, 1934 से वे उन्होंने बन्द कर दीं। उस साल श्रीलंका की उन्होंने जो यात्रा की वह उनकी आखिरी विदेश-यात्रा थी। अब वे शान्तिनिकेतन के अपने देहात के घर की ही सीमा में रहते, या कभी-कभी कलकत्ता के अपने पुश्तैनी घर में चले जाते। जब तक कि मजबूर ही न हो जाते, वे भारत के अन्दर भी लम्बी यात्राएं न करते।

अपने सातवें दशक के उत्तरार्ध में यद्यपि उन्हें चित्रकला से नया प्रेम हो गया था, पर वह उनके पहले प्रेम को, जो साहित्य-साधना से था, छुड़ा नहीं सका। काव्य का अभी भी उनके मन में सर्वोपरि स्थान था। अपने जीवन के इस दौर में उन्होंने जो चौबीस पुस्तकें प्रस्तुत कीं उनमें केवल तीन उपन्यास थे। बाकी इक्कीस में तीन नृत्य-नाटिकाएं, एक प्रतीक नाटक और शेष सब कविता-संग्रह थे। इससे पता चलता है कि आत्माभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में काव्य उन्हें अधिक पसन्द था।

जहां तक उनके काव्य का सम्बन्ध है, जब उसकी शैली में, और उससे कुछ कम मात्रा में विषय-वस्तु में भी, परिवर्तन दिखाई देने लगा। शैली में छन्द और उक्ति-वैचित्र्य जैसे सहायक अलंकरण त्याग दिए गए। सुसम्पन्न छन्दों की पुरानी योजना धीरे-धीरे लुप्त हो गई। मनोरम ध्वनि-प्रभाव पैदा करने की दृष्टि से सुचिन्तित शब्द-चयन द्वारा स्वर-माधुर्य लाने का आकर्षण कम हो गया। उक्तिवैचित्र्य की ओर भी, जो उच्च कल्पना का गहरा रंग लिए होता था, उनका आकर्षण अब उतना नहीं रहा। कुल मिलाकर, सादी सीधी-सादी शैली की ओर विशेषानुराग का स्पष्ट संकेत था। दूसरी ओर, उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में, विषय-वस्तु पिछली रचनाओं की तुलना में भारी हो गई। गम्भीर विषयों और विचार की गहराई, दोनों को अधिक

मान दिया जाने लगा। संक्षेप में, जहां रूप सादा हो गया, वहां विषय-वस्तु भारी और गहरी हो गई।

वृद्धावस्था में उनकी काव्य-रचनाओं में जो परिवर्तन आया उसका रवीन्द्रनाथ ठाकुर को खुद भी अहसास था। उनकी खास विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए, उन्होंने उन रचनाओं की तुलना परिपक्व आयु की फसल से की और पिछली रचनाओं की तुलना उनके मुकाबले बसन्त के फूलों से की।[1] यह तुलना निश्चय ही बहुत उपयुक्त है। बसन्त के फूल जहां अधिकतर अपने बाहरी रूप से हमारे हृदय को मुग्ध करते हैं, वहां शरद् के फलों का मूल्य उनके सार में होता है। बाद की इन रचनाओं में जोर पाठकों के हृदय को अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से मुग्ध करने पर उतना नहीं है, जितना कि उनके मन को गहरे और उच्च विचारों से झकझोरने पर है।

कभी-कभी बाहरी रूप के सौन्दर्य को छोड़ने की उत्कंठा इतनी बलवती हो गई कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी कविताओं के लिए गद्य-कविताओं की लय अपनाई। यह उनके लिए आसान रही, क्योंकि 1912 में अंग्रेजी गीतांजलि के लिए अपनी बंगला कविताओं का अनुवाद करते समय उन्हें उसका पूर्वानुभव हो चुका था। 1922 में लिपिका नाम से उन्होंने रूपक कथाओं का एक संग्रह निकाला था। उनमें खुद अपनी गीतमयता थी, जिसमें वे काव्य के लिए प्रयुक्त होने को बहुत ही उपयुक्त थीं। पर, इन रचनाओं का विन्यास कविताओं के रूप में नहीं किया गया था। अन्यथा, इन्हें गद्य-कविताएं माना जा सकता था। अतः ये रचनाएं उनकी गद्य-कविताओं के विकास के दूसरे चरण की सूचक हैं। अन्तिम चरण में वास्तविक गद्य कविताएं सामने आईं। 1932 और 1936 के बीच इस तरह के तीन संग्रह प्रकाशित हुए। वे स्पष्ट रूप से उनकी वृद्धावस्था के फल थे।[2]

विषय-वस्तु में भी कुछ नई विशेषताएं सामने आईं। बचपन के संस्मरण उनकी कविताओं के लिए एक आकर्षक विषय हो गए—यह चीज आसानी से समझी जा सकती है। अतः, विभिन्न संग्रहों में बहुत-सी ऐसी कविताएं देखकर जिनमें उनके बचपन के अनुभवों की याद है हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

---

1. नवजातक की भूमिका
2. ये संग्रह हैं: पुनश्च (1932), शेष सप्तक (1935) और श्यामली (1936)

इस दौर में तकनीकी और विषय-वस्तु दोनों में एक और अंतर भी दिखाई दिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रचनाओं में कुछ ऐसे प्रयोग शुरू किए जिन्हें अंग्रेजी साहित्य के 'नानसैन्स वर्स' (असंगत पद्य) नाम के पद्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें तुकांत पंक्तियां हैं, पर विभिन्न भागों का कोई संगत अर्थ नहीं निकलता।

1932 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बहुत ही नाटकीय परिस्थितियों में, एक बार फिर राजनीतिक घटनाओं में उलझ गए। मामला बहुत ही गम्भीर था, इसीलिए वे उसमें खिंच गए। दाव पर कोई छोटी-मोटी चीज नहीं बल्कि महात्मा गांधी का जीवन लगा था, जो उस समय पुणे जेल में थे। ब्रिटिश सरकार हिन्दुओं की अनुसूचित जातियों के लिए पृथक निर्वाचक-मण्डल की व्यवस्था करने पर तुली थी, जिसका स्पष्ट उद्देश्य हिन्दू समुदाय को विभाजित करना था। महात्मा गांधी ने उसका जबर्दस्त विरोध किया, पर दुर्भाग्य से उसका कोई फल नहीं निकला। तब गांधीजी ने इस सवाल पर आमरण अनशन करने की बात सोची। लेकिन अंतिम निर्णय लेने से पहले उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर से परामर्श करना आवश्यक समझा, क्योंकि उनका वे केवल आदर ही नहीं करते थे बल्कि समझदारी की सलाह के लिए उन पर भरोसा भी कर सकते थे। रवीन्द्रनाथ को गुरुदेव कहना उन्हें प्रिय लगता था।

अनशन 20 सितम्बर, 1932 को दोपहर से शुरू होना था। गांधीजी रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनका अनुमोदन चाहते हुए पहले ही पत्र लिख चुके थे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने अपनी सहमति देते हुए जवाब में उन्हें तार भेजा। उन्होंने कहा की "भारत की एकता और सामाजिक अखण्डता के लिए अमूल्य जीवन" का बलिदान उनके (गांधीजी के) लिए उचित है। पर साथ ही उन्होंने यह "गहरी आशा" प्रकट की कि लोग "निर्दयता से इस दारुण विपत्ति को उसकी चरम सीमा पर पहुंचने नहीं देंगे।"

दुर्भाग्य से गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का तार गांधीजी के पास समय से नहीं पहुंचा था। अतः 20 सितम्बर को बहुत सवेरे गांधीजी ने यह मान कर कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आशीर्वाद मिल ही जाना है, अनशन शुरू करने का निश्चय कर लिया। पर ऐसा करने से पहले उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ को एक पत्र लिखा, जो यह दिखाता है कि उनकी सलाह की जरूरत वे कितनी

बेचैनी से महसूस कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को "गुरुदेव" सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा :

> "यह मंगलवार है और ब्राह्मवेला के 3 बजे हैं। दोपहर को मुझे अग्नि-द्वार में प्रवेश करना है। यदि आप इस प्रयास को आशीर्वाद दे सकें, तो मुझे वह चाहिए। आप मेरे सच्चे मित्र रहे हैं, क्योंकि आप अपने विचारों को स्पष्ट कहने वाले निश्छल मित्र हैं। आपके निश्चित मत की, वह चाहे इस तरह हो या उस तरह, मुझे प्रतीक्षा रहेगी। परन्तु आपने आलोचना करने से इंकार कर दिया है। यदि आप का हृदय मेरी कार्यवाही की निंदा करता है तो मैं आपकी आलोचना को, बावजूद इसके कि अब तो वह अनशन के दौरान ही हो सकती है, बहुमूल्य मानूंगा। मैं इतना दम्भी नहीं हूं कि अपने को गलती पाकर भी अपनी भारी भूल खुल्लमखुल्ला स्वीकार न कर सकूं, फिर भले ही उसे स्वीकार करने की कुछ भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। यदि आपका हृदय इस कार्यवाही का अनुमोदन करता है तो मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए। उससे मुझे बल मिलेगा।"

सौभाग्य से रवीन्द्रनाथ ठाकुर का तार द्वारा भेजा गया संदेश, जिसमें उनके अनुमोदन की सूचना थी, गांधीजी को अपना अनशन शुरू करने से पहले ही मिल गया। अतः, उन्हें यह जानकर सन्तोष मिला कि वे जिस तूफान में प्रवेश करने जा रहे हैं उसमें उनका सब से अच्छा मित्र बल देने के लिए आत्मिक रूप से उनके साथ रहेगा।

फिर यह भी सौभाग्य ही था कि वह अनशन दु:खांत नहीं रहा। गांधीजी के दृढ़ निश्चय से आखिर सत्ताधिकारियों को समझ आई और वे ढीले पड़े। अनुसूचित जाति वाले हिन्दुओं के लिए पृथक निर्वाचक-मण्डल बनाने की चाल छोड़ दी गई। इस निर्णय की सूचना 26 सितम्बर, 1932 को, अनशन शुरू होने के छः दिन बाद, गांधीजी के पास भेज दी गई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस बीच, इस नाजुक घड़ी में गांधीजी के निकट रहने के लिए, पुणे आ गए थे। इस तरह यह अनशन उनकी उपस्थिति में तोड़ा जा सका।

इस प्रसंग से पता चलता है कि दोनों का पारस्परिक स्नेह किसी तरह गाढ़ी मैत्री बन गया और उन्हें एक-दूसरे की कितनी चिन्ता रहती थी। कुछ

साल बाद हालात ने ऐसी करवट ली जिससे यह स्पष्ट हो गया कि गुरुदेव के स्वास्थ्य और आराम की गांधीजी को कितनी चिंता थी।

इस शताब्दी के चौथे दशक के मध्य तक विश्व-भारती की आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब हो गई। विदेशी सरकार से किसी आर्थिक सहायता की अपेक्षा रवीन्द्रनाथ ठाकुर कर नहीं सकते थे, क्योंकि 'सर' की उपाधि लौटाने के बाद से ही वह उनके विरुद्ध हो गई थी। सामंती रियासतों के नरेशों से कुछ सहायता जरूर मिला करती थी, पर वह प्रायः नाम-मात्र की ही होती थी। विश्व-भारती का खर्च चलाने के लिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ को मुख्यतया अपने निजी साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। ये साधन थे : उनकी पुस्तकों से मिलनेवाली रायल्टी, उनकी भू-संपत्ति से होने वाली आय और विदेश की उनकी व्याख्यान यात्राओं से होनेवाली आमदनी। परन्तु आम मंदी के कारण उनकी भू-सम्पत्ति से होनेवाली आय कम हो गई थी, और दुर्बलता व वृद्धावस्था के कारण वे श्रमसाध्य विदेश-यात्राएं अब कर नहीं सकते थे। आय के दो मुख्य स्रोत इस तरह सूख जाने से, गुरुदेव के सामने अपने संस्थान के लिए वित्त की व्यवस्था करने के नए तरीके ढूंढने की गम्भीर समस्या खड़ी हो गई।

अपने विश्वविद्यालय के लिए धन जुटाने का सवाल जब गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के सामने आया तो उनके आविष्कार-कुशल मन ने उसे एक नए तरीके से सुलझाया। उन्हें यह बात सूझी कि अपने छात्रों की सहायता से भारत के विभिन्न भागों में नृत्य-नाटिकाएं खेली जाएं और इस तरह के प्रदर्शनों के टिकट बेचकर धन एकत्रित किया जाए। इस प्रक्रिया में नृत्य के एक नए प्रकार का जन्म हुआ जिसमें अपनी ऐसी विशेषताएं पनपीं कि वह नृत्य की एक नई शैली के रूप में मान्यता पाने का न्यायोचित दावा कर सकता है।

धन जुटाने के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर को इस तरीके का सहारा लेना पड़ा, यह निःसन्देह दुःख की बात थी, क्योंकि इससे उनके वृद्ध शरीर पर बहुत जोर पड़ता था।

यह 1936 की बात है। अपने यात्रा-कार्यक्रम के अनुसार रवीन्द्रनाथ ठाकुर पटना, इलाहाबाद और लाहौर का दौरा करने के बाद, अगले प्रदर्शन के लिए दिल्ली गए। इस यात्रा ने संभवतः, गांधीजी का ध्यान खींचा और उन्होंने गुरुदेव के स्वास्थ्य को दृष्टि में रखते हुए इस तरह के दौरों का विरोध किया। जब उन्हें यह पता चला कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर किस कारण स्वयं इतना कष्ट झेलते हुए ऐसा करने को बाध्य हुए हैं, तो उन्होंने गुरुदेव के पास 60,000 रुपये

एकत्रित किये और उनसे यह प्रार्थना की कि वे अपनी यात्रा बन्द कर दें और शान्तिनिकेतन लौट जाएं। टैगोर ने मेरठ में केवल एक और प्रदर्शन करने के बाद, जिसके लिए वे पहले ही वचन दे चुके थे, उनकी बात मान ली।

17 फरवरी, 1941 को गांधीजी शान्तिनिकेतन गए। टैगोर का स्वास्थ्य इस बीच बहुत गिर गया था। अपने विश्वविद्यालय के भविष्य के बारे में वे स्वभावतः बहुत चिंतित थे। जिस संस्थान को उन्होंने लगभग चालीस वर्षों में इतनी लगन से खड़ा किया उसे अब असुरक्षित भविष्य का सामना करना पड़ रहा है, यह सोचकर उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी। अपने स्वास्थ्य की गिरती दशा को ध्यान में रख उन्होंने सोचा, अब वह समय आ गया है जब अपनी सारी चिंताएं अपने इस सब से अच्छे मित्र के आगे रख देनी चाहिएं। अतः उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाते हुए विश्व-भारती के भावी अनुरक्षण का दायित्व गांधीजी को सौंपा। यह प्रार्थना समय आने पर फलीभूत हुई। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसके पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने, जो स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के बड़े प्रशंसक थे, एक अधिनियम पास करवा कर, विश्व-भारती को एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में अपना लिया।

अपने जीवन के आखिरी दशक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सुभाषचन्द्र बोस के साथ, जो उनसे आयु में काफी छोटे थे, गाढ़ी मैत्री हो गई। सुभाषचन्द्र ने बाद में 'इंडियन नेशनल आर्मी' संगठित की और वे स्वाधीनता संग्राम में उसका नेतृत्व कर अपने देश के प्रिय 'नेताजी' बने। रवीन्द्रनाथ ठाकुर सुभाषचन्द्र के वीरोचित गुणों के बड़े प्रशंसक हो गए थे, क्योंकि वे दुष्टतम ब्रिटिश साम्राज्य-वाद की शक्तिशाली चुनौती की बार-बार अवज्ञा कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब जोरासांको के अपने पुश्तैनी मकान में टिके होते तो सुभाषचन्द्र का वहां उनसे मिलने आना कोई अनोखी बात नहीं रह गया था।

एक बार जनवरी, 1939 में सुभाषचन्द्र का शान्तिनिकेतन जाना भी तय हुआ। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर उन्हें विद्रोही युवा भावना का प्रतीक मानते थे और उनके इतने प्रशंसक थे कि उन्होंने सुभाषचन्द्र के सम्मान में एक शानदार स्वागत-समारोह आयोजित करने का निश्चय किया, और इस अवसर पर पढ़े जाने के लिए एक अभिनन्दन तक लिखा। दुर्भाग्य से किसी कारण उनका वहां जाना ना हो सका, पर उनके लिए जो अभिनन्दन गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था वह सौभाग्य से सुरक्षित है। उसकी पहली कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत

की जा रही है, जिनसे पता चलेगा कि अपने युवा मित्र के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कैसी उच्च भावनाएं रखते थे :

> "बंगाल के कवि के नाते मैं आपको जन-नायक के सम्मानित आसन के लिए आमंत्रित करता हूं। हमें गीता का यह पावन आश्वासन प्राप्त है कि पाप के राज्य को चुनौती देने के लिए पुण्य का दिव्य संरक्षक हर युग में आविर्भूत होता है।"

जाहिर है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर सुभाषचन्द्र को इस तरह के संरक्षक के सिंहासन पर आसीन करने को बिलकुल तैयार थे।

इस तरह का प्रेम एकतरफा भला कैसे रह सकता है। वस्तुतः, स्नेह के ऐसे उद्गारों का उत्तर सुभाषचन्द्र ने भावना के गहरे आवेग से दिया। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को मानवता का कवि कहा, ऐसा कवि जिसने अपनी लेखनी से युवा वर्ग को महान ध्येयों के लिए लड़ने को प्रेरित किया।

सुभाषचन्द्र ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से महाजाति सदन का शिलान्यास करने की प्रार्थना की, जिसका उपयोग सार्वजनिक उद्देश्य के लिए होना था। स्वास्थ्य खराब होते हुए भी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसके लिए राजी हो गए। इस अवसर पर बोलते हुए, सुभाषचन्द्र ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का इन शब्दों में अभिनन्दन किया : "मान्यवर, आप शाश्वत वाणी से हमारे पुनरुजीवित राष्ट्र की आशाओं और आकांक्षाओं को बराबर ओजस्वी अभिव्यक्ति देते रहे हैं। आपका सन्देश अमर यौवन का सन्देश रहा है। आपने काव्य और कला का सृजन ही नहीं किया, उन्हें जिया भी है। आप केवल भारत के कवि नहीं, मानवता के भी कवि हैं।"

बाद में, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, जब सुभाषचन्द्र ने बर्लिन में 'फ्री इंडिया लीग' की स्थापना की तो उनके अनुरोध पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित भारत-गीत, 'जन-गण-मन' को राष्ट्रीय गान के रूप में स्वीकार करने का फैसला किया गया। 1942 में हैम्बर्ग में एक समारोह में उनके आग्रह पर उसकी धुन पहली बार वाद्यवृंद पर बजाई गई।

वृद्धावस्था में कलिम्पोंग के लिए, जो पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले का एक पर्वतीय उपनगर है और मृदु जलवायु के लिए प्रसिद्ध है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मन में एक विशेष आकर्षण पैदा हो गया। उस जगह का प्राकृतिक सौन्दर्य भी एक कारण रहा होगा। सघन हरी पर्णावली और उत्तर बंगाल के मैदानी क्षेत्रों में उतरने से पहले गहरी घाटी में से बहती तीस्ता नदी का द्रुत

प्रवाह वहां के रमणीक आकर्षण हैं। ग्रीष्म और शरद ऋतुओं में विश्राम और स्वास्थ्य-लाभ के लिए गुरुदेव प्रायः वहीं रहते।

कलिम्पोंग के निकट सरकारी सिनकोना उपवन है जिसका मुख्य कार्यालय मौंगपू पर है। सिनकोना उपवन के रसायनविद् डा. मनमोहन सेन की पत्नी मैत्रेयी देवी से रवीन्द्रनाथ का विशेष स्नेह हो गया था। अतः उन्होंने जब गुरुदेव को वहां टिकने का निमन्त्रण दिया तो गुरुदेव स्वभावतः इन्कार नहीं कर सके, और 1938 में उन्होंने इस छोटी-सी बस्ती के ग्राम्य वातावरण में दो महीने बिताए। इस नवयुवती ने उनकी जिस लगन से देखभाल की उससे वह जगह उनके लिए और भी आकर्षक हो गई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को वह जगह बहुत ही भायी और वे वहां कई बार गए। अन्तिम बार वे 1940 की गर्मी में वहां गए और उनका जन्म-दिवस, जो 8 मई को पड़ता है, वहीं मनाया गया।

इसके बाद शीघ्र ही 7 अगस्त, 1940 को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अनुरोध पर शान्तिनिकेतन में एक समारोह आयोजित किया गया जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी विश्वविद्यालय ने पहले उन्हें हिबर्ट व्याख्यान देने के आमन्त्रण से सम्मानित किया था। इस बार इसने उन्हें डाक्टर आफ लिट्रेचर की मानद उपाधि प्रदान करने का निश्चय किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के स्वास्थ्य की दशा ऐसी नहीं थी कि वे आक्सफोर्ड की यात्रा कर सकते, इसलिए यही तय हुआ कि गुरुदेव के निवास स्थान, शान्तिनिकेतन में ही एक सादा समारोह कर उन्हें उपाधि प्रदान की जाए। भारत के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के भूतपूर्व छात्र सर मारिस गायर ने उन्हें उपाधि प्रदान की।

इसके कुछ दिन बाद ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ने लगा। उनकी नजर बहुत कमजोर हो गई। वे मुश्किल से चल पाते और उन्हें पहियेदार कुर्सी से ले जाना होता। 1940 की शरद् ऋतु में वे कलकत्ता के अपने पुश्तैनी मकान पर आए और उन्होंने कलिम्पोंग जाने की इच्छा प्रकट की। उनके चिकित्सकों ने मना किया, पर उस जगह जाने की उनकी इच्छा इतनी प्रबल थी कि उसके बावजूद वे वहां चले गए। दुर्भाग्य से चिकित्सकों को जो आशंका थी वह सही निकली, क्योंकि वहां कुछ दिन रहने के बाद ही वे इतने बीमार पड़ गए कि उन्हें डाक्टरों की देखभाल में कलकत्ता लाना पड़ा। कुछ

दिन उपचार के बाद ही उनकी हालत इस लायक हुई कि वे नवम्बर 1940 में शान्तिनिकेतन वापस जा सके।

उनका अगला जन्म-दिवस 8 मई, 1941 को शान्तिनिकेतन में भव्य ढंग से मनाया गया। ऐसे अवसर पर वे अपना सन्देश आम तौर पर कविता या भाषण के रूप में दिया करते थे। पर इस बार उन्होंने एक लिखित सन्देश दिया जो बहुत निराशावादी लगा। यह निराशावाद विश्व की उस समय की परिस्थिति के कारण था। विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्र एक विनाशकारी घातक युद्ध में एक-दूसरे से जूझ रहे थे और शेष के देर-सवेर उसमें फंसने का भय था।

वर्तमान शताब्दी का चौथा दशक निश्चय ही इतिहास का सब से काला पृष्ठ था। रणोद्यत राष्ट्रवाद ने तब संस्कृति और नैतिक मूल्यों पर आचरण के सारे आडम्बर उतार फेंके थे, और उसका घृणिततम रूप सामने आ गया था। जापानी साम्राज्यवाद कोरिया और मंचूरिया पर कब्जा करके भी सन्तुष्ट न था और उसने चीन को अपने अधीन करने के लिए निर्मम युद्ध छेड़ दिया था। इटली का तानाशाह मुसोलिनी, प्राचीन रोमन सम्राटों के चरण-चिह्नों पर चलने का स्वप्न देख रहा था और उसने एबेसिनीया पर, जो अफ्रीका महाद्वीप का राजनीतिक स्वतन्त्रता भोगने वाला एक मात्र देश था, चढ़ाई कर दी थी। यूरोप की मुख्यभूमि पर हिटलर, जर्मन नस्ल की श्रेष्ठता स्थापित करने को, पड़ोसी देशों पर कब्जा करने के लिए युद्ध कर रहा था। वह पोलैंड को रौंद चुका था और उसका इलाज उसने और सोवियत रूस ने आपस में बांट लिया था। कुछ समय बाद उसने फ्रांस और नीदरलैंड पर भी कब्जा कर लिया। ग्रेट ब्रिटेन, अपनी सेना की करारी हार के बाद, अपने द्वीप की रक्षा करने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा था।

इस अन्धकारमय पृष्ठभूमि में रवीन्द्रनाथ स्वभावतः, बहुत उदास थे। यह विध्वंस-लीला उन्हें उस निर्मम और लोभी राष्ट्रवाद का युक्तियुक्त परिणाम लगी जिसे पश्चिमी देशों ने अपनी प्रौद्योगिक कुशलता का लाभ उठाकर बड़ी लालसा से पाला-पोसा था। सच तो यह है कि वे पहले विश्वयुद्ध में भी इसी तरह के पीड़ाजनक अनुभव से गुजरे थे और विश्व के विभिन्न भागों की अपनी यात्राओं में उन्होंने राष्ट्रवाद के इस रूप की निन्दा बेझिझक की थी।

1917 में ही, जब पहला विश्वयुद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ था,

उन्होंने राष्ट्रवाद के प्रति, जो बढ़कर साम्राज्यवाद का रूप ले लेता है, अपना विरोध इन शब्दों में प्रकट किया था :

> "राष्ट्र बहुत अरसे से खण्डित मानवता पर फैला-फला है। मनुष्य, जो ईश्वर की सब से सुन्दर रचना है, जब राष्ट्र की फैक्ट्री में से बाहर निकले तो युद्ध और धन पैदा करने वाली कठपुतलियों की भीड़ बन चुके थे। अपनी इस दयनीय पूर्ण यांत्रिकता पर उनका गर्व बहुत ही हास्यास्पद है। मानव-समाज उत्तरोत्तर राजनीतिज्ञों, सैनिकों, निर्माताओं और नौकरशाहों का कठपुतली का तमाशा बनता गया है। इन कठपुतलियों को चलाने की जो व्यवस्था है उसकी क्षमता आश्चर्यजनक है।"[1]

इस बार साम्राज्यवादी देश गले तक युद्ध में डूबे थे। उन्हें लगा, विधाता इसमें एक चेतावनी दे रहा है। वह यह दिखा रहा है कि "शक्ति की उदण्डता कैसे-कैसे खतरे लाती है।" उन्होंने यह आवश्यक समझा कि मानव-जाति को सावधान कर देना चाहिए। अतः उनके सन्देश का वही मुख्य विषय बन गया। बाद में, वह सन्देश अंग्रेजी में अनूदित होकर "द क्राइसिस आफ सिविलाइजेशन" (सभ्यता का संकट) शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस अभिभाषण में उन्होंने कहा :

> "इस बीच बर्बरता के दानव ने सभी दिखावे छोड़ दिए हैं और वह अपने पंजे फैलाकर सामने आ गया है तथा इस विध्वंस-लीला में मानवता को चीरने-फाड़ने के लिए तैयार है। विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक घृणा की जहरीली भाप वातावरण को अन्धकारमय कर रही है। हिंसा की भावना, जो शायद पश्चिम की मनोवृत्ति में ही छिपी थी, आखिर अब जाग उठी है और उसने मानवीय भावना को दूषित कर दिया है।"

फिर भी, मानवता के सच्चे प्रेमी होने के कारण, वे अपने सन्देश की समाप्ति एक आशावादी स्वर से किए बिना नहीं रह सके। जब तक कि मनुष्य में हमारी आस्था बिलकुल ही समाप्त न हो जाए, हम आस्था को लेकर ही जीते हैं। इसलिए मानवजाति को रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यह चेतावनी, जैसा कि समझा जा सकता है, इस स्वर में समाप्त होती है :

---

1. नेशलिज्म, नेशलिज्म इन दा वस्ट

"जब मैं चारों ओर दृष्टि डालता हूं तो मुझे दम्भी सभ्यता के जीर्ण खण्डहर बेकार ढेर की तरह बिखरे दीखते हैं। फिर भी, मैं मनुष्य में आस्था खोने का घोर पाप नहीं करूंगा, बल्कि यह आशा करूंगा कि इस प्रलय के बाद और जब वातावरण सेवा तथा त्याग की भावना से स्वच्छ हो जाएगा तो उसके इतिहास का एक नया अध्याय खुलेगा।"

दैवयोग से यह उनका अन्तिम जन्म-दिवस समारोह था जो वे स्वयं देख पाए, क्योंकि इसके बाद वे ज्यादा दिन जीवित नहीं रहे। जुलाई, 1941 के अन्तिम दिनों में उनकी बीमारी इतनी बढ़ गई कि 25 जुलाई को इलाज के लिए उन्हें उनके कलकत्ता के घर में लाना पड़ा। पांच दिन बाद, 30 जुलाई को उनका आपरेशन करना पड़ा। परन्तु अच्छी से अच्छी चिकित्सा के बावजूद, उनकी हालत नहीं सुधरी और 7 अगस्त, 1941 को दोपहर में उनका प्राण-पखेरू शान्ति से उड़ गया।

तब कलकत्ता में जो दृश्य दिखाई दिया वह उसके इतिहास में अभूतपूर्व था। उनके शव को दाह-संस्कार के लिए जब हुगली के तट पर ले जाया जा रहा था तो लोग हजारों की संख्या में अपने प्रिय कवि के अन्तिम दर्शनों के लिए उमड़ रहे थे। सांझ के सूरज के साथ उनके शारीरिक अवशेष के सभी चिह्न चिता की सर्वग्रासी आग में लुप्त हो गए।

इस प्रकार एक रंगारंग और महिमामंडित जीवन, जो उनके काव्य की तरह ही मनोहारी थी, समाप्त हो गया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारतीय संस्कृति के सार-तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते थे। और उन्होंने भारत की सजीव वाणी की तरह काम किया। परन्तु काल का हाथ उस वाणी को चुप नहीं करा सका। मरने के बाद भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी रचनाओं द्वारा उसी तरह काम कर रहे हैं।

परिशिष्ट-क

वंशावली

तालिका 1

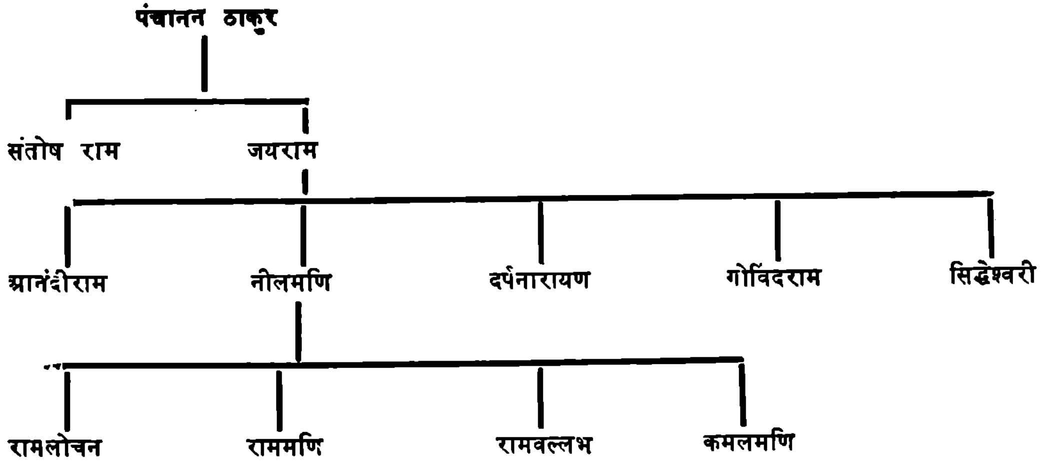

तालिका 2-क

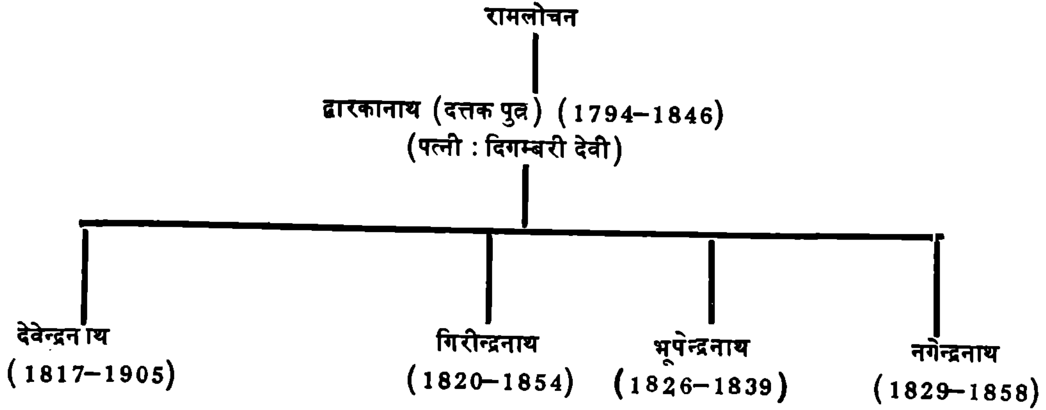
रामलोचन
द्वारकानाथ (दत्तक पुत्र) (1794–1846)
(पत्नी : दिगम्बरी देवी)
देवेन्द्रनाथ
(1817–1905)
गिरीन्द्रनाथ
(1820–1854)
भूपेन्द्रनाथ
(1826–1839)
नगेन्द्रनाथ
(1829–1858)

तालिका 2-ख

रामणि (1759–1833)

- राधानाथ (1790–1830)
- द्वारकानाथ (ताऊ रामलोचन ने गोद ले लिए)

तालिका 3-क

देवेन्द्रनाथ (1817–1905)
(पत्नी : शारदा देवी)

बेटी (अल्पायु में मृत्यु)
द्विजेन्द्रनाथ (1840–1926)
(पत्नी : सर्वसुन्दरी देवी)
सत्येन्द्रनाथ (1842–1923)
(पत्नी : ज्ञानदानन्दिनी देवी)
हेमेन्द्रनाथ (1844–1884)
(पत्नी : नीलमयी देवी)
वीरेन्द्रनाथ (1844–1915)
(पत्नी : प्रफुल्लमयी देवी)
सौदामिनी देवी (1847–1920)
(पति : शारदाप्रसाद गांगुली)
ज्योतिरिन्द्रनाथ (1849–1925)
(पत्नी : कादम्बरी देवी)
सुकुमारी देवी (1850–1864)
(पति : हेमेन्द्रनाथ मुखर्जी)
पुण्येन्द्रनाथ (1851–1887)
शरत्कुमारी देवी (1854–1920)
(पति : यदुनाथ मुखर्जी)
स्वर्णकुमारी देवी (1856–1932)
(पति : जानकीनाथ घोषाल)

वर्णकुमारी देवी (1858–1948)
(पति : सतीशचन्द्र मुखर्जी)
सोमेन्द्रनाथ (1859–1922)
रवीन्द्रनाथ (1861–1941)
(पत्नी : मृणालिनी देवी)
बुद्धेन्द्रनाथ (1863–1864)

तालिका 3-ख

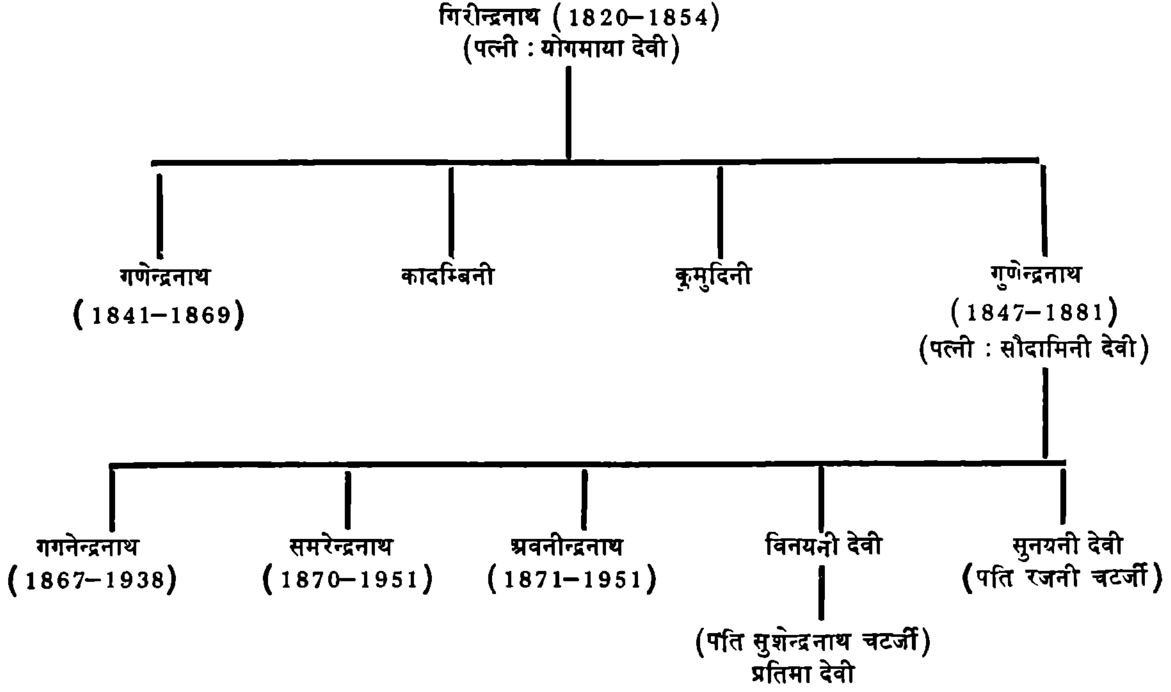
गिरीन्द्रनाथ (1820–1854)
(पत्नी : योगमाया देवी)
गणेन्द्रनाथ
(1841–1869)
कादम्बिनी
कुमुदिनी
गुणेन्द्रनाथ
(1847–1881)
(पत्नी : सौदामिनी देवी)
गगनेन्द्रनाथ
(1867–1938)
समरेन्द्रनाथ
(1870–1951)
अवनीन्द्रनाथ
(1871–1951)
विनयनी देवी
(पति सुशेन्द्रनाथ चटर्जी)
प्रतिमा देवी
सुनयनी देवी
(पति रजनी चटर्जी)

तालिका 4

रवीन्द्रनाथ (1861–1941)
(पत्नी : मृणालिनी देवी)

- माधुरी लता (1886–1918) (पति : शरतचन्द्र चक्रवर्ती) (कोई संतान नहीं)
- रथीन्द्रनाथ (1888–1961) (पत्नी : प्रतिमादेवी) (कोई संतान नहीं)
  - नन्दिनी (दत्तक पुत्री) (जन्म 1922)
- रेणका (1890–1903) (पति सत्येन्द्र भट्टाचार्य)
- मीरा (1892–1969) (पति : नगेन्द्रनाथ गांगली)
  - नीतीन्द्रनाथ (1912–1932)
  - नन्दिता (1916–1967) (पति : कृष्ण कृपलानी) (कोई संतान नहीं)
- समिन्द्रनाथ (1894–1907)

परिशिष्ट—ख

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की महत्वपूर्ण रचनाओं की कालक्रमानुसार सूची

(बंगला में)

1878	कवि-काहिनी	काव्य
1880	वनफूल	गाथा
1881	वाल्मीकि प्रतिभा	गीतिनाट्य
	भग्न हृदय	कविताएं
	रुद्र चण्ड	नाटिका
1882	सांध्य संगीत	कविताएं
	कालमृगया	गीतिनाट्य
1883	बउ-ठाकुरानीर हाट	उपन्यास
	प्रभात संगीत	कविताएं
1884	छवि ओ गान	कविताएं
	प्रकृतिर प्रतिशोध	पद्य नाटक
	नलिनी	नाटक
	शैशव संगीत	कविताएं
	भानुसिंह ठाकुरेर पदावली	प्राचीन वैष्णव शैली में रचित कविताएं
1886	कौड़ी ओ कमल	कविताएं
1887	राजर्षि	उपन्यास
1888	मायार खेला	गीतिनाट्य
1889	राजा ओ रानी	पद्य नाटक
1890	विसर्जन	'राजर्षि' उपन्यास पर आधारित पद्य नाटक
	मानसी	कविताएं
1892	चित्रांगदा	पद्य नाटक

	गोड़ाय गलद	प्रहसन
1894	सोनार तरी	कविताएं
	छोट गल्प	लघु कहानियां
	विचित्र गल्प	लघु कहानियां
	कथा चतुष्टय	लघु कहानियां
1895	गल्प दशक	लघु कहानियां
1896	नदी	लम्बी कविता
	चित्रा	कविताएं
1897	वैकुंठेर खाता	प्रहसन
1899	कणिका	कविताएं
1900	कथा	गाथाएं
	काहिनी	मुक्त छंद में गाथाएं श्रौर नाटिकाएं
	कल्पना	कविताएं
	क्षणिका	कविताएं
1901	नैवेद्य	कविताएं, श्रधिकांश सॉनेट
1903	चोखेर बाली	उपन्यास
	कर्मफल	कहानी
1906	खेया	कविताएं
	नौका डूबी	उपन्यास
1907	प्राचीन साहित्य	साहित्य-समा-लोचना
	श्राधुनिक साहित्य	साहित्य-समालोचना
	हास्य कौतुक	हास्य रेखाचित्र
	व्यंग कौतुक	हास्य रेखाचित्र
1908	प्रजापतिर निर्बन्ध	उपन्यास । बाद में इसका नाम 'चिरकुमार सभा' कर दिया गया इसी नाम से बाद में इसका नाट्य रूपान्तर भी हुश्रा ।

शरदोत्सव	नाटक
मुकुट	नाटिका
शान्तिनिकेतन (भाग 1 से 8)	धर्म और दर्शन पर व्याख्यान
शिशु	बच्चों के लिए कविताएं
शान्तिनिकेतन (भाग 9 से 11)	धर्म और दर्शन पर व्याख्यान
गोरा	उपन्यास
गीतांजलि	कविताएं और गीत
राजा	प्रतीक नाटक
शान्तिनिकेतन (भाग 12 से 13)	धर्म और दर्शन पर व्याख्यान
डाकघर	नाट्यरूपक
गल्प चारिती	लघु कहानियां
मालिनी	नाटक
अत्ती गल्प	लघु कहानियां
चैताली	कविताएं
जीवन-स्मति	जीवन-संस्मरण
अचलायतन	प्रतीक नाटक
स्मरण	दिवंगत पत्नी पर कविताएं
उत्सर्ग	कविताएं
गीतिमाल्य	गीत और कविताएं
गीताली	गीत और कविताएं
शान्तिनिकेतन (भाग 14)	धर्म और दर्शन पर व्याख्यान
शान्तिनिकेतन (भाग 15–17)	धर्म और दर्शन पर व्याख्यान
फाल्गुनी	नाटक
घरे बाइरे	उपन्यास

	बलाका	लम्बी कविताएं
	चतुरंग	उपन्यास
	गल्प सप्तक	कहानियां
1918	गुरु	'अचलायतन' का संशोधित रूप
	पलातक	गाथाएं
1920	अरूपरत्न	प्रतीक नाटक । 'राजा' का संशोधित रूप
	पयला नम्बर	कहानी
1921	ऋणशोध	नाटिका । 'शरदोत्सव' का संशोधित रूप
1922	मुक्तधारा	प्रतीक नाटक
	लिपिका	रूपक कथाएं
	शिशु भोलानाथ	बच्चों के लिए कविताएं
1925	पूरवी	कविताएं
	गहप्रवेश	नाटक
	प्रवाहिनी	गीत
1926	चिरकुमार सभा	'प्रजापतिर निर्बन्ध' का नाट्य रूपान्तर
	शोधबोध	नाटक
	रक्त करवी	प्रतीक नाटक
1927	ऋतुरंग	गीतिनाट्य
1928	शेषरक्षा	प्रहसन । 'गोड़ाय गलद' का संशोधित रूप
1929	योगायोग	उपन्यास
	शेषेर कविता	उपन्यास
	तपती	नाटक । 'राजा ओ रानी' का गद्य रूपान्तर
	महुआ	कविताएं

1931	वनवाणी	गीत और कविताएं
	शापमोचन	गीतिनाटिका
1932	पुनश्च	गद्य कविताएं
1933	दुइ बोन	उपन्यास
	मानुषेर धर्म	कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए कमला व्याख्यान
	चंडालिका	नृत्यनाटिका
	ताशेर देश	प्रतीक नाटक
	बंसरी	नाटक
1934	मालनचा	उपन्यास
	चार अध्याय	उपन्यास
1935	शेष सप्तक	गद्य कविताएं
	बीथिका	कविताएं
1936	चित्रांगदा	मूल पद्य नाटक पर आधारित नृत्य-नाटिका
	पत्रपुट	गद्य कविताएं
	श्यामली	गद्य कविताएं
1937	खापाछाड़ा	असंगत पद्य
1938	प्रांतिक	कविताएं
	चंडालिका	नृत्य-नाटिका
	सेंजुति	कविताएं
1939	प्रहासिनी	कविताएं
	आकाश-प्रदीप	कविताएं
	श्यामा	नृत्य-नाटिका
1940	नवजातक	कविताएं
	शनै:	कविताएं
	छेलेबेला	बचपन के संस्मरण
	रोगशय्या	कविताएं

1941	आरोग्य	कविताएं
	जन्मदिने	कविताएं
	गल्पशल्प	कविताएं और कहानियां
	सभ्यतार संकट	आखिरी जन्म-दिवस पर भाषण

(अंग्रेजी में)
(स्वयं किए अनुवादों सहित)

1912	गीतांजलि	अपनी बंगला कविताओं का अनुवाद
1913	दा गार्डनर	अपनी बंगला कविताओं का अनुवाद
	क्रिसेंट मून	अपनी बंगला कविताओं का अनुवाद
	चित्रा	अपने नाटक 'चित्रांगदा' का अनुवाद
1914	साधना	अमरीका में 1912–13 में दिए गए व्याख्यान
1917	नेशनलिज्म	जापान और अमरीका में 1916–17 में दिए गए व्याख्यान
	पर्सनेलिटी	जापान और अमरीका में 1916–17 में दिए गए व्याख्यान
1919	दा सेंटर आफ इंडियन कल्चर	अंग्रेजी में व्याख्यान
1922	क्रिएटिव यूनिटी	अंग्रेजी में निबन्ध
1925	टॉक्स इन चाइना	चीन में दिए गए व्याख्यान
1928	फायर फ्लाइज	अपनी बंगला कविताओं का अनुवाद

	लैक्चर्स एंड एड्रेसिज	चुने हुए व्याख्यान
1931	द चाइल्ड	अंग्रेजी में प्रतीक कविता
	द रिलिजन आफ मैन	आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दिए गए हिबर्ट लैक्चर्स
1932	महात्मा गांधी एंड डिप्रैस्ड ह्यूमैनिटी	महात्मा गांधी का मूल्यांकन

यह तो सभी जानते हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर महान साहित्यकार थे जिन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया; असाधारण स्वर-शिल्पी थे जिन्होंने संगीत की एक नई शैली 'रवीन्द्र संगीत' को जन्म दिया; परम्परागत भारतीय नृत्यों के संरक्षक थे जिन्होंने नृत्य की एक नई शैली प्रस्तुत की, महान शिक्षाविद् थे जिन्होंने 'विश्वभारती' की स्थापना की; और ऐसे चित्रकार थे जिनकी कला-कृतियां लय और अन्तरंग से परिपूर्ण थीं।

फिर भी उनके जीवन के अनेक तथ्य ऐसे हैं जिनकी लोगों को शायद ही जानकारी हो।

बचपन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर नौकरों के राज की प्रजा रहे। लड़कपन में उन्हें स्कूल कभी अच्छा नहीं लगा और वे ज्यादातर यही मनाते थे कि वे खुद या फिर उनका अध्यापक ही बीमार पड़ जाए। विवाहित रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी विदेशी-यात्रा बीच में ही इस लिए खत्म कर दी कि पत्नी और बच्चों का विछोह उनसे सहा नहीं गया। पांच साल में उन्हें चार-चार बार अपने प्रिय जनों की मौतें झेलनी पड़ीं। और नोबेल पुरस्कार पाने के बाद उन्होंने भरी सभा में इस बात पर दुःख प्रकट किया कि अपने देशवासियों से उन्हें अपमान और बदनामी ही मिली है।

इस महापुरुष के जीवन के ये रोचक प्रसंग श्री हिरण्मय बनर्जी ने उनके जीवन-चरित्र में बड़ी ही कुशलता से गूंथे हैं। उनकी उपलब्धियों को उनके रंगारंग जीवन की घटनाओं से जोड़ते हुए, उनके चरित्र के विभिन्न पहलुओं और हमारी विरासत में उनके योगदान पर इसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक भारत के निर्माता

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार